२५वां वर्ष

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

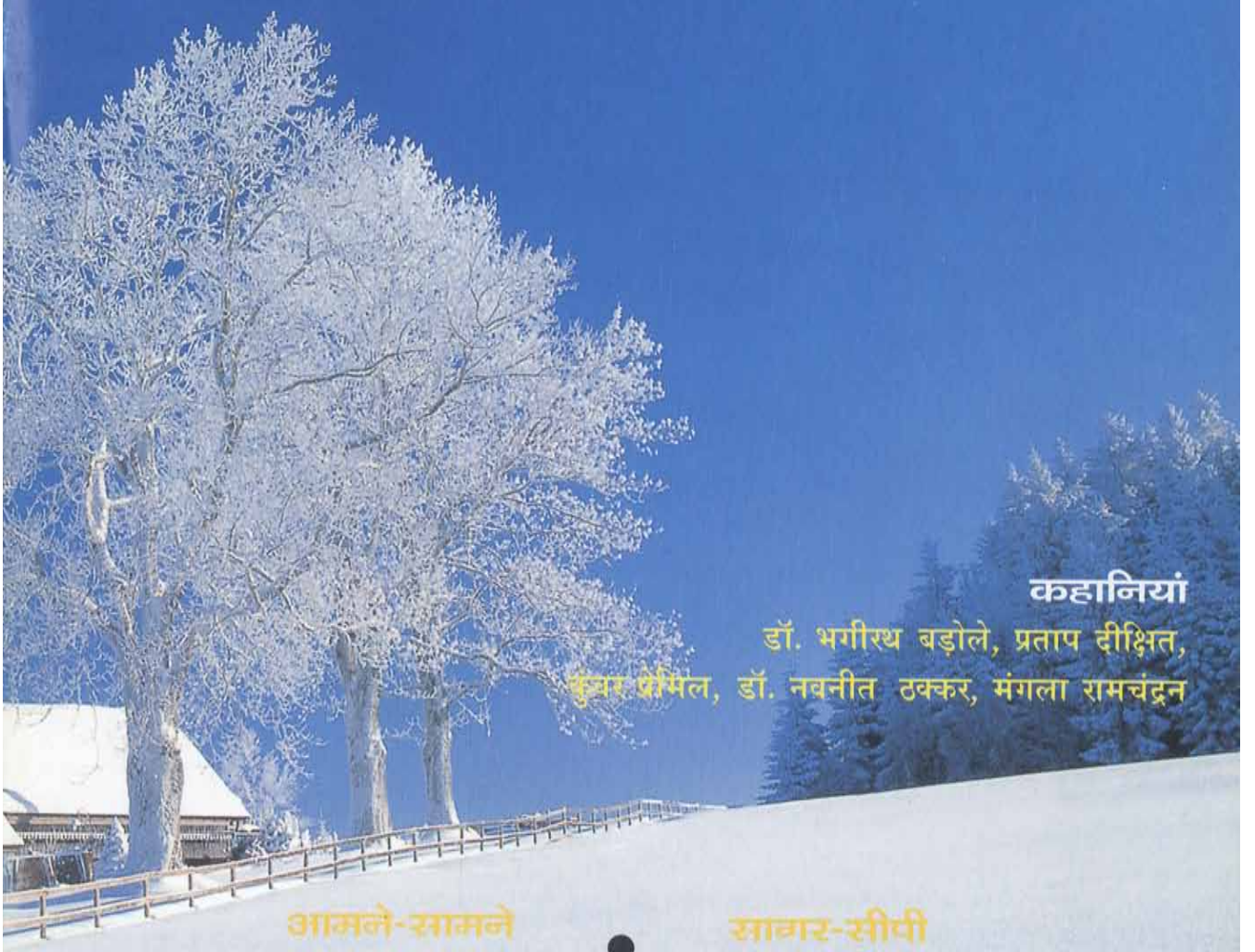

कहानियां

डॉ. भगीरथ बड़ोले, प्रताप दीक्षित,
कुंवर प्रेमिल, डॉ. नवनीत ठक्कर, मंगला रामचंद्रन

आमने-सामने
मंगला रामचंद्रन

सात्वार-सीधी
डॉ. रामविलास शर्मा

जुलाई - सितंबर २००४

१५ रुपये

न्यूक्लियर पावर कारपोरेशन ऑफ इन्डिया लिमिटेड
स्वच्छ ऊर्जा – हरित पर्यावरण

देश में विकसित नाभिकीय ऊर्जा तकनीकी, ऊर्जा की सुनिश्चितता प्रदान करती है और भविष्य में न केवल ऊर्जा का सहायक स्रोत, बल्कि प्रमुख स्रोत बन सकती है।

नाभिकीय ऊर्जा, विद्युत का स्वच्छ स्रोत है, जिससे ग्रीन हाउस गैसें, धुआं एवं कण उत्पन्न नहीं होते तथा प्रकृति में सर्वत्र व्याप्त पृष्ठभूमि विकिरण में नगण्य वृद्धि ही होती है।

न्यूक्लियर पावर कारपोरेशन ऑफ इन्डिया लिमिटेड सुरक्षा एवं उत्तमता के अपने कीर्तिमान के साथ-साथ प्रकृति के अनुरूप पर्यावरण की रक्षा करता है एवं इसे समृद्ध बनाता है।

न्यूक्लियर पावर कारपोरेशन ऑफ इन्डिया लिमिटेड विश्वसनीय संचालन एवं दृढ़ निश्चय द्वारा भविष्य निर्माण की दिशा में अग्रसर है।

न्यूक्लियर पावर कारपोरेशन ऑफ इन्डिया लिमिटेड
(भारत सरकार का उद्यम)
विक्रम साराभाई भवन,
अणुशक्ति नगर, मुंबई - 400 094.

नाभिकीय ऊर्जा – एक अपरिहार्य पर्याय

जुलाई - सितंबर २००४
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
कृपया सदस्यता शुल्क बैंक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

● रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ●
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : २५५१५५४१ व २५५५५८२२
e-mail : kathabimb@yahoo.com

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक
अरुण सक्सेना
फोन : २३६८ ३७७५

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

|| ५ || ये अंधेरे...वे अंधेरे ! / डॉ. भगीरथ बड़ोले
|| १० || अब क्षमा याचना नहीं ! / प्रताप दीक्षित
|| १५ || एक नहीं दो प्रतिज्ञाएं / कुंवर प्रेमिल
|| १८ || संगदाह ! / डॉ. नवनीत ठक्कर
|| २३ || उसे हवा भी नहीं छू सकती / मंगला रामचंद्रन

लघुकथाएं

|| ९ || दस्तूर / गोवर्धन यादव
|| १६ || सुखी कर गये / रमेश मनोहरा
|| २८ || सड़ गये सब खेत / महीपाल भूरिया
|| ३६ || प्रार्थना / माला वर्मा
|| ३६ || नया चैनल / राजेंद्र परदेसी
|| ४८ || बचे-खुचे दिन / डॉ. राजेंद्र गुप्त

गीत / कविताएं / ग़ज़लें

|| ९ || ज़लज़ला (ग़ज़ल) / जयवीर
|| २१ || ओस बिंदु / डॉ. देवेंद्र नाथ श्रीवास्तव
|| २२ || दो ग़ज़लें / चांद शेरी
|| ३९ || दो ग़ज़लें / गोपाल कृष्ण सक्सेना 'पंकज'
|| ४६ || ग़ज़लें / एम. अयाज़ 'गुड्डू', राजेंद्र तिवारी
|| ४६ || नया साल आ गया है / देवेंद्र सिंह
|| ४७ || अपने विरुद्ध, दुधारी तलवारें / हरदर्शन सहगल
|| ४७ || रात का अंधेरा, भूख मजबूर है / शंकरानंद
|| ४७ || पासवई / पलाश विश्वास

स्तंभ

|| २ || लेटरबॉक्स
|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| २९ || आमने-सामने / मंगला रामचंद्रन
|| ३२ || सागर-सीपी / डॉ. रामविलास शर्मा
|| ३६ || वातायन / डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम'
|| ४० || पुस्तक-समीक्षाएं

लेटर बॉक्स

❁ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक पढ़ा. कहानी 'शहतूत पक गये हैं' और 'संभालिए अपना राजपाट !' बहुत अच्छी लगीं. दोनों कहानियां यथार्थपरक और ज़मीन से जुड़ी हुई लगीं. दिदिया का दर्द मन को गहरे तक छूता है, तो गुलो की पीड़ा भी गहरी चुभन देती है. गुलो जैसे चरित्र हमारे परिवेश के जीवंत चरित्र हैं. इस चरित्र ने अपने पिता के एक स्वामीभक्त नौकर अजीत लाल की याद ताजा कर दी.

'आमने/सामने' के अंतर्गत रामदेव सिंह जी की आत्मरचना ने बहुत प्रभावित किया. ख़लील जिब्रान की पंक्तियों का उल्लेख कर, लेखक ने जैसे अपने मन की गांठ पूरी तरह खोलकर पाठकों के सामने रख दी है.

लघुकथा 'अस्तित्व शून्य' ने भी प्रभावित किया. अंक की सभी रचनाएं अच्छी लगीं. "कथाबिंब" की विशेषता है कि हर अंक में उत्कृष्ट रचनाएं पढ़ने को मिलती हैं. 'कुछ कही, कुछ अनकही' का जवाब नहीं. आपकी बेबाक टिप्पणियां हर अंक की भांति इस अंक की भी शोभा हैं. ठीक लिखा है आपने, राजनीति जन भावनाओं से खेलने का खेल है.

✣ डॉ. निरुपमा राय

उर्सलाइन कॉन्वेंट रोड, रंगभूमि हाता, पूर्णियां - ८५४३०१

❁ "कथाबिंब" अप्रैल-जून ०४ पूरा पढ़ गया हूं. कहानियां सभी अच्छी हैं. कुछ कहानियां बहुत अच्छी हैं. संतोष श्रीवास्तव की 'शहतूत पक गये हैं' का 'पैथॅस' देर तक मन पर छाया रहता है. रामदेव सिंह की 'संभालिए अपना राजपाट !' का दर्द मर्म को मुट्ठी में लेकर मानो भींचता है. और सी. भास्कर राव की 'खिड़की' वाह, क्या बात है ! आरंभ में लगता है, यह क्या है ? क्या करने जा रहे हैं ये, और अंत तक जाते-जाते अवाक हो जाना पड़ता है. कितना कुछ कह देती है कहानी !

रामदेव सिंह की आत्मरचना भी बहुत अच्छी लगी. उसी तरह की चीज़ें मुझे बहुत भाती हैं. उनमें रचनाकार अपने प्राकृतिक स्वरूप में सामने खड़ा मिलता है. सभी कहानीकारों को मेरी हार्दिक बधाई !

और आपको भी ! पच्चीस वर्षों से एक अच्छी, स्तरीय पत्रिका निरंतर निकालते रहने के लिए !

"कथाबिंब" के जनवरी-मार्च ०४ अंक में जयनारायण की कहानी 'महाभिनिष्क्रमण' यादगार थी. उसमें हमारे समय के सच को परत-दर-परत नंगा करके दिखा दिया है कहानीकार ने ओर बड़े कलात्मक ढंग से ! देर से ही सही, उनको मेरी हार्दिक बधाई प्रेषित कर दें.

✣ डॉ. देवेंद्र सिंह

देवगिरि, आदमपुर घाट, मोड़, भागलपुर-८१२ ००१

❁ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक मिला. अच्छी सामग्री संकलित की है आपने. विशेष रूप से मैं डॉ. रामविलास जी से लिये गये साक्षात्कार और श्री रामदेव सिंह जी की आत्मरचना की चर्चा करना चाहूंगा. अन्य रचनाएं भी अच्छी हैं. सुश्री संतोष श्रीवास्तव की कहानी 'शहतूत पक गये हैं' करुण रस से ओतप्रोत है. मैं भी अपने आंसू नहीं रोक पाया. श्री रामदेव सिंह की कहानी भी सोचने को विवश करती है. आप सबको बहुत-बहुत बधाई.

✣ विष्णु प्रभाकर

बी-१५१, महाराणा प्रताप एन्कलेव,
पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

❁ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक अपनी विशेष पहचान लिये प्राप्त हुआ. इस अंक के आवरण पृष्ठ ने ही मन बांध लिया. अंदर की छपाई तो उत्कृष्ट है ही. मैं कभी भी किसी पत्रिका को एक बैठक में नहीं पढ़ पाता. धीरे-धीरे और गूढ़ता से ही प्रत्येक रचना का अध्ययन करता हूं. डॉ. सी. भास्कर राव की कहानी 'खिड़की' एक जटिल सोच से उपजी कहानी लगी. कहानी में खिंचाव कम और गूढ़ता ज्यादा लगी और अपने मन की बात कहूं तो ऐसी कहानी पहली बार ही पढ़ी.

डॉ. श्याम सखा 'श्याम' के हंसमुख फोटो परिचय ने उनकी कहानी 'क्या यह क़त्ल था !' पढ़ने के लिए एक ही बैठक में विवश कर दिया. ये बेबाक शैली में लिखी गयी इस अंक की अनूठी रचना लगी - इसने शुरू से अंत तक इस प्रकार बांध लिया कि इधर-उधर देखना भी बुरा लगने लगा. मैं बहुत लंबी कहानियां और लघु कहानियां पढ़ना पसंद नहीं करता. लेकिन इस बार 'कथाबिंब' की लघुकथाएं भी पढ़ीं. इनमें डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र की 'हर शाख़ पे...' बहुत अच्छी लगी. लेखिका ने आज की ज़िंदगी के सच को बड़ी संजीदगी से उकेरा है. ऐसी विशिष्ट रचनाओं के लिए मैं लेखकों को साधुवाद देता हूं. अन्य लेखक-लेखिकाओं की रचनाएं भी उच्चकोटि की रचनाएं हैं. गीत, ग़ज़ल, और कविताओं ने भी अपने अनूठेपन की पहचान बनायी है. इनमें से महीपाल भूरिया की कविता 'तुम्हारी पुरानी ओढ़नी' सशक्त रचना लगी.

आपका संपादकीय 'कुछ कही, कुछ अनकही' आपकी सिद्धहस्तता का प्रतीक है. साहित्य, राजनीति और सम-सामयिक समस्याओं को समझाने का अपना निराला अंदाज़. राजनीति पर आपने जो व्यंग्य किया है - 'कहीं का ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमति ने कुनबा जोड़ा, सत्ता की भूख जो न कराये वह थोड़ा', बहुत-बहुत धन्यवाद ! 'कथाबिंब' नित्य नयी मंज़िलें पाये. बहुत शुभकामना !

✣ ज्ञान वर्मा

'रवींद्र साहित्य कुंज', १०३, प्रताप विहार, पार्ट-I,
दिल्ली-११० ०४१.

❋ "कथाबिंब" के पच्चीस वर्षों का सफ़र कुछ साफ़ तो कुछ धुंधली यादों के साथ, यह अंक प्राप्त होते ही आंखों के सामने घूम गया. किसी लघुपत्रिका का ऐसा लंबा सफ़र कितना चुनौती तथा संघर्ष भरा होता है, इसका अहसास केवल पाठक या छपने वाले लेखक के रूप में नहीं किया जा सकता. जिसके पैरों में इसी भूमिका की वज़ह से बिवाई पड़ी हो, वही इस 'पीर' को समझ सकता है.

यही कहना ज़रूरी होगा कि 'कथाबिंब' को जिस निष्ठा और समर्पण-भाव से ऊंचाइयां तथा पहचान आपने तथा मंजुश्री ने दी, वह लघुपत्रिका ही नहीं पूरे साहित्य जगत के लिए गौरव और गर्व का विषय है.

तक़रीबन प्रकाशन वर्ष से ही 'कथाबिंब' से संबद्ध होने के कारण, मैं कह सकता हूं कि इस मंच से आपने न केवल एकदम नयी पीढ़ी की रचनात्मकता को प्रोत्साहित किया प्रत्युत समकालीन तथा पूर्ववर्ती वरिष्ठ एवं प्रतिष्ठित कथाकारों की सोच, समझ और रचनात्मक अवदान को विशेष रूप से रेखांकित करने के अवसर जुटाये. कहानी, कविता, लघुकथा के विशेषांकों, आमने-सामने या सागर-सीपी जैसे स्तंभों ने जो दिया, वह सब महज़ यादगार ही नहीं संग्रहणीय भी बन गया. क्या इसे एक अभूतपूर्व घटना नहीं माना जा सकता कि हिंदी कथा-जगत की हर पीढ़ी के लिए 'कथाबिंब' नाम आज नया नहीं, निकटता का पर्याय बन चुका है !

आपने अपना संकल्प पूरा करने के लिए अपनी निजी प्राथमिकताओं को नज़र अंदाज़ कर, लेखकों और पाठकों को बहुत-बहुत प्यार के साथ सम्मान दिया किंतु हम आत्ममंथन कर देखें हमने क्या दिया ? सिवाय इस अपेक्षा के कि अंक नियमित निकलें या हमारी रचनाएं छपती रहें. मैं सोचता हूं, 'कथाबिंब' जैसी समर्पित पत्रिका के संरक्षक लेखक या पाठक ही होते हैं, इसलिए उनकी भागीदारी भी आर्थिक-मोर्चे पर उतनी ही महत्वपूर्ण होती है जितनी पत्रिका-परिवार की. आशा है मित्र-मंडली मुझसे सहमत होकर, कुछ कर गुज़रने के लिए अपना मानस बनायेगी.

छब्बीसवें वर्ष में प्रवेश करने पर फ़िलहाल 'कथाबिंब' परिवार का हार्दिक अभिनंदन, इस अपेक्षा के साथ कि समय के पंखों पर यात्रा करते हुए शीघ्र ही स्वर्ण जयंती अंक हमारे हाथों में होगा.

✣ डॉ. सतीश दुबे

७६६, सुदामा नगर, इंदौर-४५२००९

❋ "कथाबिंब" के रजत जयंती वर्ष का द्वितीय अंक मिला. बहुत ख़ुशी हुई. साहित्य के प्रति सरकारी एवं ग़ैर-सरकारी उदासीनता के होते हुए एक पत्रिका को इतने वर्षों तक ले जाना आपके साहस, त्याग और आस्था का परिचय है. आपका यह साहस और उत्साह बना रहे, यही कामना है.

✣ कुशेश्वर

पी-१६६/ए, मुदियाली फर्स्ट लेन, कोलकाता - ७०० ०२४.

❋ पिछले दिनों "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक मिला. संपादकीय में बात उठायी गयी कि साहित्यिक पत्रिका में राजनीतिक प्रसंग क्यों ? सच तो यह है कि आज की तमाम विसंगत स्थितियों के लिए राजनीति ही प्रत्यक्ष ज़िम्मेदार है, अतः उस पर टिप्पणी ग़ैरवाजिब नहीं. आख़िर विस्तृत सामाजिक प्रवाह को चुस्त दुरुस्त करने का दायित्व साहित्य का भी है. यदि इसी अंक में प्रकाशित लघुकथाओं पर दृष्टिपात करें तो प्रायः हर कहीं इनमें वर्तमान विसंगत स्थितियों को ही विषय का आधार बनाया गया है. यह अपने युग के प्रति रचनाकार के सजग दायित्व बोध का परिणाम कहा जायेगा. कमोबेश यही स्थिति काव्य रचनाओं में भी समुपस्थित है. कहानियों के अंतर्गत सुश्री संतोष श्रीवास्तव की कहानी 'शहतूत पक गये हैं' भावुक प्रेमसंदर्भों का बयान करती है. डॉ. श्याम सखा की 'क्या यह क़त्ल था' नर-नारी संबंधों की मनोवैज्ञानिक जांच पड़ताल करती है, डॉ. सी भास्कर राव की 'खिड़की' में आज के कुंठाग्रस्त चरित्र को वर्णित किया गया है, डॉ. विद्याभूषण की 'क्या करेंगे गुहा दा' तथा रामदेव सिंह की 'संभालिए अपना राजपाट' - दोनों में अन्यों के प्रति संपूर्णतः समर्पित महनीय व्यक्तियों का रूपांकन हुआ है जो बाद में विषम स्थितियों के शिकार हो कर एक गहरा दर्द छोड़ जाते हैं और महावीर रवांल्टा की 'दोस्त बड़ोनी...' भी बेफ़िक्र लगने वाले युवक की विवशताओं को प्रत्यक्ष करती है. इस क्रम में 'आमने-सामने' में श्री रामदेव सिंह ने अपने जीवन के उन सत्यों को सामने रखा है जो उनकी रचनाओं के केंद्र को स्पष्ट कर सकें. इसी प्रकार 'सागर-सीपी' में डॉ. रामविलास शर्मा से डॉ. त्रिभुवननाथ की चर्चा अत्यंत गंभीर, महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान लगी. अंक में प्रस्तुत विस्तृत एवं व्यवस्थित समीक्षाएं संबंधित कृति का सम्यक् परिचय देने में समर्थ हैं.

✣ डॉ. भगीरथ बड़ोले

२८६, विवेकानंद कॉलोनी, फ्रीगंज, उज्जैन - ४५६ ०१०.

❋ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक मिला. आपके संपादकत्व में 'कथाबिंब' अब पक चुकी है. यह इस अंक की प्रथम कहानी 'शहतूत पक गये हैं' से इंगित हो रहा है. कितनी अच्छी कहानी लिखी है, संतोष श्रीवास्तव जी ने. साधुवाद ! आमने-सामने में रामदेव सिंह जी ने कमाल ही कर दिया. अपने जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को कितनी संज़ीदगी से शब्दों की शक्ल में ढाला है. इसे कहते हैं लिखने की कला. बहुत प्रभावपूर्ण और प्रेरक है आपकी आत्मरचना. आपका जीवन भी तो कितना संघर्षपूर्ण और पावन रहा है. प्रेरणा मिली आपके जीवन से. कविताएं कुछ कमज़ोर पड़ जाती हैं, कथाबिंब की. कहीं यह कथाप्रधान होने का असर तो नहीं है. ख़ैर, कथाबिंब निकलती रहे, शुभेच्छा है.

✣ अनार सिंह वर्मा

ग्राम अंडौआ नगला, डा. मुबारिकपुर माफ़ी,
जि. एटा (उ. प्र.) - २०७१२४

(...कुछ और प्रतिक्रियाओं के लिए कृपया पृष्ठ ४१ देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

यह वर्ष २००४ का तीसरा अंक है. बहुत शीघ्र ही चौथा अंक भी पाठकों के हाथों में होगा. सामान्यतः किसी पत्रिका प्रकाशन के चार पहलू होते हैं : समुचित लेखकीय सहयोग - मुद्रण की सही व्यवस्था - विज्ञापन दाताओं का पर्याप्त सहयोग और एक जागरूक पाठक वर्ग. पर्याप्त विज्ञापनों के अभाव में विवश हो कई बार अंकों के प्रकाशन में, न चाहते हुए भी विलंब हो जाता रहा है. किंतु फ़िलवक़्त कुछ ऐसे संकेत मिल रहे हैं कि जल्दी ही इस पहलू पर भी पकड़ मज़बूत हो जायेगी और 'कथाबिंब' के प्रकाशन में चला आ रहा विलंब समाप्त हो जायेगा.

●

इस अंक में पांच कहानियां जा रही हैं. पहली कहानी 'ये अंधेरे...वे अंधेरे' (डॉ. भगीरथ बड़ोले) वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य पर एक करारा प्रहार है. कहानी राजनीति में घिर आये अंधेरों को उजागर करती है. प्रताप दीक्षित की कहानी 'अब क्षमा याचना नहीं !' एक ऐसी महिला की कहानी है जिसके साथ एक 'हादसा' घट जाता है. जिस कारण से घर वाले उसे हेय दृष्टि से देखने लगते हैं. पति से भी उसे कोई सहानुभूति नहीं मिलती. फिर क्षमा याचना क्यों ? कुंवर प्रेमिल की कहानी 'एक नहीं दो प्रतिज्ञाएं' एक दृढ़ प्रतिज्ञ मां और बेटे की कहानी है. कहानी रेखांकित करती है कि कैसे ठान लेने पर एक निपट देहाती लड़का इंजीनियर बन सकता है. डॉ. नवनीत ठक्कर की कहानी 'संगदाह !' विचित्र स्थितियों की कहानी है. मां अपनी पुत्री पर असीम प्रेम न्यौछावर करती है. पुत्री की बीमारी के कारण दामाद दूसरी औरत न कर ले इसलिए विवश हो स्वयं मां उससे शारीरिक संबंध बनाती है. बाद में ग्लानि के कारण मां आत्महत्या कर लेती है. पुत्री को जब सारी बात मालूम पड़ती है तो वह भी मां का बिछोह बर्दाश्त नहीं कर पाती. 'उसे हवा भी छू नहीं सकती' (मंगला रामचंद्रन) 'मानसी' की कहानी है जिसने घर परिवार के दबाव के कारण अविवाहित रहने का प्रण ले लिया था. लेकिन जीवन के ढलान पर आखिर वर्तमानजीवी पवन ने उसे छू ही लिया.

इस अंक को मिला कर अब तक वर्ष २००४ में १४ कहानियां प्रकाशित हुई हैं. अगले अंक में 'कथाबिंब-२००४' पुरस्कारों के लिए 'अभिमत-पत्र' प्रकाशित होगा जिसके माध्यम से आपको पहली आठ कहानियों का क्रम निर्धारित करना होगा. एक बार फिर सभी पाठकों से निवेदन है कि 'मतदान' में अधिक से अधिक संख्या में भाग लेकर इस लोकतांत्रिक आयोजन को सफल बनाने के लिए आगे आयें.

●

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है. सौ करोड़ से अधिक हमारी आबादी विश्व की कुल जनसंख्या के बीस प्रतिशत के लगभग है. आज़ादी के समय देश की आबादी ३० करोड़ के आसपास थी. कुछ लोगों की व्यक्तिगत आकांक्षाओं के चलते देश का बंटवारा हुआ और नेहरू जी के नेतृत्व में कॉन्ग्रेस की सरकार बनी. लोगों के मन में उछाह था, बंटवारे की विभीषिका झेलने के बाद भी स्वतंत्र देश के लिए त्याग और कुछ भी करने का जज़्बा लोगों में था लेकिन विधाताओं ने देश की प्राथमिकताओं को नहीं पहचाना. बड़े शहरों के पास ही बड़ी-बड़ी औद्योगिक इकाइयां लगायी गयीं - पंचवर्षीय योजनाएं बनीं मगर उनका कोई मॉनीटरन नहीं हुआ - जनसंख्या बढ़ती रही और गांव खाली होते रहे और महानगरों के आसपास झोपड़ी-झुग्गियों का विस्तार होता रहा. शिक्षा - स्वास्थ्य - पानी - सड़क - बिजली - जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के बारे में जितना ध्यान देना आवश्यक था, नहीं दिया गया. लाइसेन्स और परमिट राज ने लालफीताशाही को प्रश्रय दिया तथा भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया. सत्ताधारियों का सारा ध्यान केवल इस ओर केंद्रित रहा कि कुछ प्रलोभन देकर या कुछ नारे उछाल कर किसी तरह सत्ता में बने रहें. कॉन्ग्रेस ने अंग्रेजों के क़दमों पर चलते हुए 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर अमल करते हुए क्षेत्रीय, जातीय, भाषाई व धार्मिक अंतरों को अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल किया. राष्ट्रहित को ध्यान में रख कर शायद ही कोई दीर्घकालिक निर्णय लिये गये हों !

आज़ादी के बाद के ५७ वर्षों में से लगभग ५० वर्षों तक कॉन्ग्रेस सत्ता पर क़ाबिज रही है. इसलिए यदि अब तक देश अपेक्षा के अनुरूप प्रगति और विकास नहीं कर सका है तो उसकी ज़िम्मेदारी कॉन्ग्रेस की ही है. जिस तरह सोनिया गांधी के 'न' करने पर नरसिंम्हा राव प्रधानमंत्री बने थे कुछ उसी तरह से मनमोहन सिंह ने भी सोनिया गांधी के इन्कार करने पर गद्दी संभाली है. विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के संविधान में यह सबसे बड़ी ख़ामी है कि बिना चुनकर आये मात्र पार्टी द्वारा नामज़द किये जाने पर राज्य सभा के पिछले रास्ते से कोई भी प्रधानमंत्री बन सकता है. क्या यही 'जनता की सरकार, जनता द्वारा, जनता के लिए है' ?

●

इस अंक के 'लेटर बॉक्स' में सहारनपुर के भाई पंकज मिश्र का पत्र छपा है. वे किस आम जन और किस जनवाद की बात कर रहे हैं ? राशन की लाइन में मुफ़्त में तो सामान नहीं मिलता ! ग़रीब से ग़रीब आदमी कुछ सौदा-सुलफ़ तो करता ही है. यदि राशनवाला छुट्टे पैसों के स्थान पर पोस्टकार्ड या टॉफी पकड़ा दे तो क्या आमजन प्रभावित नहीं होगा ? पता नहीं पंकज भाई क्यों चाहते हैं कि लोग हमेशा घंटों लाइन में लगकर राशन ख़रीदें ! ग़रीब का ग़रीब बना रहना कौन-सा राष्ट्रहित है ? जब अनाज के भंडार भरे पड़े हैं, बहुत-सा भंडारित अनाज सड़ जाता है. तो फिर भी लोग भूखों मरते हैं ?

(. . . शेष पृष्ठ ५२ पर देखें)

कहानी

ये अंधेरे...वे अंधेरे !

आज खांसी ने अच्छा ख़ासा ज़ोर पकड़ लिया था. जब-जब वह उठती थी, भोलू को लगता था कि कोई भीतर से एक के बाद एक सारी अंतड़ियां ही खींच रहा है. हर पल यही अनुभव होता कि इस बार वह बचेगा नहीं. ऐसे समय अपनी बेबसी पर वह चिड़चिड़ा उठता - 'यह भी कोई ज़िंदगी है क्या, जिसमें हर तरफ़ जलजले ही जलजले भरे पड़े हैं. ऐसी ज़िंदगी को जीने से अच्छा तो यही है कि अचानक किसी पल मौत आ जाये और मुक्त कर दे उसे इस त्रासद ज़िंदगी से.' उसे लग रहा था कि अब वह थक गया है, अलग अलग रास्तों पर रोशनी की तलाश में दौड़ते-दौड़ते. सचमुच बहुत थक गया है वह.

वैसे भोलू अपने जीवन में किसी संकल्प शक्ति के सहारे जीना चाहता था. अपने तमाम सुख-दुःख और स्वार्थों को भूलने के बाद जागने वाली सारी संभावनाओं के साथ वह जीना चाहता था. नदी के प्रवाह के समानांतर खुले आकाश में पंख पसारते पंछियों सा जीना चाहता था. अपनी ज़िंदगी में जाने कितने ज़लज़लों का सामना किया था उसने और हर बार अपने संकल्पों को मज़बूती के साथ थामे रखा और हमेशा ही ठीक-ठाक बनाये रखा उसने अपने आप को. पर एक तो सांस की बीमारी और दूसरे...दीपक की करतूतें, भारी उथल-पुथल मचा देती थीं उसके भीतर.

सांस की यह बीमारी बरसों से है उसे, लेकिन इस अयाचित तकलीफ़ को उसने हर समय चुपचाप सहा है. इस दरमियान सुशीला बिछड़ गयी, उस कमी को भी हर पल सहा है उसने. सुशीला से बिछुड़ने के बाद उम्मीदों ने दीपक की तरफ़ अपनी नज़र मोड़ी. पर उस कंबख्त ने उसके सारे जीवन-संघर्ष को ही बेमानी बना दिया. लगता है कि चिराग़ तले का यह अंधेरा उसके शेष संदर्भों को संपूर्णता में लील जायेगा. इसीलिए जीने की हर हौंस भोलू को निरर्थक सी लग रही थी.

तरह-तरह के विचारों के इस अस्त व्यस्त चिंतन में डूबते-उतराते भोलू की खांसी ने फिर ज़ोर पकड़ लिया. खांसी के एक ज़ोरदार ठसके के कारण भीतर की अंतड़ियां मुंह के रास्ते बाहर निकलने ही वाली थीं कि किसी ने उसकी पीठ को ज़ोर से थपथपाना शुरू कर दिया. इससे कफ़ के सरक जाने से अटकन कुछ कम हो गयी और सांस की नली में हवा के आने जाने के लिए जगह कुछ खुलने लगी. नतीज़ा यह हुआ कि जर्जर फेफड़ों को सहारा मिल गया और सब कुछ बेदम होते-होते बच गया. थोड़ा चैन मिलने पर भोलू ने मुड़कर पीछे की तरफ़ देखा और हांफ़ते हुए भी उसके मुंह से निकल पड़ा- 'अरे,...करीम ! तुम...!!'

हंसते हुए करीम मियां ने कहा - 'हां मियां, हम...!' तुम्हारी खांसी की घरघराहट दूर-दूर तक दस्तक दे रही थी. वह सुन ली और दौड़कर चला आया. अब ये बताओ, कुछ तसल्ली महसूस हो रही है न ?

'हां, पीठ ठेक देने पर कुछ चैन तो मिल रहा है. पर मैं सोचता हूं, अगर इस वक़्त तुम इधर नहीं आते तो ज्यादा बेहतर होता. रोज़-रोज़ तकलीफ़ झेलने के बजाय एक ही बार में सारा फैसला हो जाता और छूट जाता मैं तमाम जंजालों से.'

'फिर वही बात, कुत्ते की दुम जैसी.' चिढ़कर करीम मियां बोल पड़े - 'अरे, आख़िर दौड़कर क्यों नहीं आता मैं ? तुम भी तो किसी ज़माने में दौड़कर आ जाते थे मेरे क़रीब और घंटों सहलाते रहते थे मेरे जख़्मों को. उन दिनों को भूलना आसान है क्या ?'

डॉ. भगीरथ बड़ोले

ठंडी लंबी सांस लेकर भोलू बोल पड़ा - 'हां, वह ज़माना तो कुछ और ही था करीम मियां ! अब वह ज़माना है ही कहां? अब तो इस छोर से उस छोर तक सिर्फ़ आपाधापी ही मची हुई है. हर कोई किसी भी डोर के सहारे पहले आगे बढ़ता है, फिर उस डोर को भूल कर एक लंबी छलांग लगाते हुए जाने कहां से कहां चला जाता है, कुछ भी समझ में नहीं आता.'

सामने बैठते हुए करीम ने कहा - 'बात तो तुम्हारी ठीक है भोलू ! अब तो परवरदिगार जो भी दिन दिखाये, देखने ही होंगे. पर मुझे भरोसा है कि ये सारी मुसीबत बस, कुछ ही दिनों की है, जल्दी ही सब कुछ ठीक ठाक हो जायेगा. देखना, कितनी जल्दी ये ज़माना फिर से बदलता है !'

'मुझे कोरी तसल्ली मत दो करीम मियां. अब क्या ख़ाक बदलेगा ये ज़माना !' अगर बदलने वाली बात होती तो दीपक के तेवर कुछ और ही नज़र आते. पता नहीं क्यों, आज के ये नौजवान अपने घरों में पहले तो सपनों के मंदिर बनवा लेते हैं और फिर उसकी पूजा-आराधना का ज़िम्मा दूसरों को सौंपकर उस ओर मुड़कर देखते ही नहीं. बस, इसीलिए झूठी उम्मीदों के सहारे अब जीना छोड़ दो करीम मियां, सब फ़िजूल है. भोलू ने अत्यंत निराश मुद्रा में कहा.

'झूठी उम्मीदें...! कौन सी झूठी उम्मीदें ? मियां बरख़ुरदार, याद करो पुराने दिन, जब हम-तुम सभी नामुमकिन उम्मीदें लेकर

ही आज़ादी की जंग में कूद पड़े थे. बताओ, बाद में वो सब पूरी हुईं कि नहीं ?

'पूरी कहां हुई हैं वो सब ? आज जो कुछ नज़र आ रहा है, वैसा तो नहीं चाहा था हमने ! आज खुलेआम मतलबी राजनीति की गुंडागर्दी चल रही है, जिसे न कोई देखने वाला है न सुनने-समझने वाला. बदलने की बात ख़याली पुलाव ही समझो.'

धैर्य के साथ करीम मियां ने कहा - 'होता है मियां, बदलाव के हर मौके पर ऐसा ही बहुत-कुछ नज़र आता है. आज़ादी हासिल करते समय भी ऐसी ही मुश्किलों का दौर पार किया था हम सबने और अब देश की नयी तस्वीर बनाने के दरमियान भी इन्हीं मुश्किल दौरों को पार करना पड़ेगा. इसीलिए कहता हूं कि थोड़ी तसल्ली रखो और देखते जाओ कि ज़माना किस तेजी से और कितने ग़ौर से अपने निशाने पहचान रहा है. जरा, एक बड़े तूफान के इन छोटे-छोटे टुकड़ों को गुज़र जाने दो, फिर देखना तुम्हारे ही भीतर फिर से जीने की ललक मौजूद नज़र आयेगी.'

प्रतिवाद प्रस्तुत करते हुए भोलू बोला - 'तुम असलियत टाल रहे हो करीम मियां, इसलिए कि यह सब कुछ नामुमकिन है. और फिर अगर ऐसा कुछ मुमकिन भी हुआ तो क्या उसे देखने को तब तक हम तुम बचे रहेंगे ?'

करीम मियां ने निर्द्वंद्व भाव से कहा - 'हम रहें चाहे ना रहें, अगली पीढ़ियों के नसीब में होगा वह सुख. इस मानी में हमारा बलिदान फ़िज़ूल नहीं जायेगा. यही तो वादा था हमारा. अब अगर आज कहीं कुछ गड़बड़ है तो एक बार फिर सामना करेंगे उसका. आख़िर, पहले तय किये गये इरादों को फिर से दुहरा लेने में हर्ज़ ही क्या है ?'

करीम मियां की बात सुनकर भोलू के भीतर कहीं कुछ पिघलने लगा. उसे महसूस हुआ कि उसके भीतर कोई एक तूफान फिर किसी आकार में बदल रहा है और कोशिश कर रहा है कि वह उसी रूप में बाहर चला आये और बाहर आकर दीपक के फैलाये सारे अंधेरों को तहस नहस कर दे. यह कितनी अजीब बात है कि जिसका बड़ी उम्मीदों से नाम रखा था दीपक, वह अंधेरों को तोड़ने के बजाय उन्हें फैलने में मदद दे रहा है. क्या इसीलिए उसने दीपक को आगे बढ़ाया था या कि उसकी परवरिश में ही कहीं कोई चूक हो गयी उससे ? यही सब सोचते-सोचते भोलू ने अपने भीतर उठते हुए तूफान को भीतर ही रोक लिया और विचार करने लगा ये तमाम बातें.

भोलू को काफ़ी देर तक मौन देखकर करीम मियां को अचानक अपने काम की याद आ गयी. अब तक भोलू की खांसी भी थम गयी थी और वह सांस लेने में राहत महसूस कर रहा था. इसीलिए करीम मियां उससे जाने की अनुमति लेकर बाहर निकल पड़ा, पर जाते-जाते यह कहना नहीं भूला - 'अब तुम भी इन तमाम चक्करों से निकालो अपने आप को बाहर. अल्लाह, सब कुछ ठीक ही करेगा, उस पर भरोसा रखो. और देखो, शाम उतर रही है, जरा वक़्त पर रोशनी जला लेना.'

करीम मियां के जाते ही भोलू के भीतर दबा हुआ तूफान बाहर आने के लिए छटपटाने लगा. भोलू जानता है कि पिछले अनेक वर्षों से ज़िंदगी की जिस कड़वाहट को वह अकेले-अकेले जी रहा है, करीम का उससे सामना नहीं हुआ कभी ! शायद इसलिए वह अब तक पुराने आदर्शों की ज़मीन पर ही जमा हुआ है. पर यहां तो उसके बेटे दीपक ने ही अपने कर्मों से उसकी वह सारी ज़मीन हिला दी है. जब कहीं कोई ठोस धरातल ही नज़र नहीं आता, तो वह अपने आपको टिकाये किसके सहारे ? हर ओर एक घुप्प अंधेरा पसरा हुआ है. बस, अब यही चारों तरफ़ नज़र आ रहा है.

६ जून १९४२,
एम. ए. (हिंदी), पी-एच.डी.

लेखन : *सन् १९६० से साहित्य की विविध विधाओं : गीत-कविता कहानी-एकांकी, व्यंग्य-आलोचना, समीक्षा-शोध निबंध, आदि में समान रूप से निरंतर लेखन.*

प्रकाशन : *देश की विविध पत्र-पत्रिकाओं और आकाशवाणी द्वारा निरंतर प्रकाशन-प्रसारण; अद्यावधि विविध विधाओं में स्फुट रूप से ५०० से अधिक रचनाएं प्रकाशित; 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियां' तथा 'गुड़िया का ब्याह' कृतियां प्रकाशित. अनेक कृतियों (लगभग दस) में सहलेखन (आलेख, ग़ज़लें, व्यंग्य संकलित). संपादन सहयोग भी.*

पुरस्कार : *देश की अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित, पुरस्कृत. अद्यावधि पंद्रह बार अखिल भारतीय स्तर पर लेखन में रचनाएं पुरस्कृत; म. प्र. साहित्य परिषद द्वारा 'रविशंकर शुक्ल पुरस्कार.'*

संप्रति : *इन दिनों विक्रम वि.वि. के हिंदी अध्ययन केंद्र के आचार्य एवं अध्यक्ष पद से 'सेवा-निवृत्त'. विविध-विधाओं में समान रूप से लेखन और प्रकाशन का क्रम नियमित जारी है.*

इसी विचारक्रम के किसी अंतराल में एक पल भोलू सोचने लगता कि घुप्प अंधेरा भी भला कोई नज़र में आने वाली चीज़ है ! और जो नज़र नहीं आ रहा है उससे वह इतना दुखी क्यों है ? पर दूसरे ही पल वह सोचने लगता कि उसका दुःख अकारण नहीं है. इस घुप्प अंधेरे के आरपार का बहुत कुछ उसकी स्मृतियों में समाया हुआ है और वह सब कुछ नज़र आ रहा है साफ़ साफ़..! भोलू इन तमाम बातों पर सोच ही रहा था कि एकाएक कोई तेजी से झोपड़ी के भीतर घुसकर उसके सामने खड़ा हो गया. अपने चारों ओर कुछ टटोलने-टोहने की चेष्टा करने वाली उसकी आंखें धुंधलके के बीच भी आगंतुक के आकार पर टिकने लगीं. पर बहुत कोशिशों के बाद भी जब साफ़-साफ़ कुछ नज़र नहीं आया तो उसने पूछ ही लिया - 'कौन...! कौन है...?

'मैं दीपेंद्र...!'

अचानक तैश में आकर भोलू ने कहा - 'क्यों आये हो यहां ?'

'मैं अपने पिता को अपने घर ले जाने के लिए आया हूं!'

व्यंग्यात्मक आश्चर्य से भोलू ने पूछा - 'अपना घर...! कौन सा अपना घर ? मेरा अपना घर तो यही है, जिसकी नींव आज भी पक्की है और जहां मैं इस समय आख़िरी सांसें ले रहा हूं.'

'पर वह घर भी तो आपका ही घर है.'

'नहीं, न वह घर पक्का है न वह मेरा है. आख़िर भ्रष्टाचार की दलदल पर तैयार किया गया घर मेरा कैसे हो सकता है ?' फिर एक क्षण सांस लेकर भोलू बोल पड़ा - 'और फिर वह तुम्हारा भी कैसे हो सकता है ?'

'देखिए, वह घर मैंने बनाया है आपके सपनों के अनुरूप, इसलिए आपका भी घर है. वहां उस घर में आपकी अपनी भारत माता का मंदिर भी है और आपके चले आने के बाद इन दिनों उनकी पूजा आराधना करनेवाला कोई नहीं है वहां.'

'हां, यह तो सच कहा तुमने कि इन दिनों वहां भारत माता की पूजा करने वाला कोई नहीं है !' भीतर की चिढ़ को बाहर निकालते हुए भोलू ने व्यंग्य किया. किंतु भोलू के लहजे पर ध्यान दिये बिना ही दीपेंद्र उर्फ दीपक बोल पड़ा - 'इसीलिए तो आपका वहां रहना बेहद ज़रूरी है.'

'ताकि तुम उस की आड़ में तमाम आदर्शों की धज्जियां बिखेर सको.' अब भोलू ने अपने व्यंग्य को और अधिक स्पष्ट किया, जिसे दीपक समझ गया. किंतु वह उलझना नहीं चाहता था, इसीलिए उसने सीधे से कह दिया - 'ऐसा कुछ भी नहीं है वहां पर. इसके बजाय वहां मैं हूं और आपकी भारत माता है. और क्या चाहिए आपको ?'

'मुझे ईमान चाहिए दीपक, जो वहां नहीं है. मुझे साफ़-सुथरी नीयत भी चाहिए, जो वहां कहीं नज़र नहीं आती. केवल मंदिर बना देने से कुछ होने जाने वाला नहीं है, वैसा आचरण भी अच्छी नीयत के साथ जुड़ा होना चाहिए. और जहां तक तुम्हारी नीयत का सवाल है, उसे मैं अब अच्छी तरह पहचान गया हूं.'

'पर इसमें मेरा क्या दोष है ? पूरे देश में यही सब कुछ चल रहा है, तो मैं उससे अलग कैसे हो सकता हूं ? वैसे आज़ादी पाने से पहले आपके नियम और सिद्धांत ज़रूर जायज़ थे, पर अब बदली हुई परिस्थितियों में नये बदलावों के साथ चलना ही जायज़ है.' दीपक ने निर्द्वंद्व भाव से कह दिया.

'अगर आज ऐसा सब कुछ जायज़ है तो फिर तुम्हारे खिलाफ़ सारी जांच-पड़ताल क्यों चल रही है ?'

'वह बहुत ज़रूरी है, अपनी छवि सुधारने के लिए. अगर गुलामी के दिन होते तो हम लोग बलिदान के रास्ते चलकर अपनी छवि को चमका लेते, पर आज़ादी के बाद बदले हुए हालातों में अपने को पाक-साफ़ साबित करने का इससे बढ़ियाज़रिया और कौन सा हो सकता है कि हम अपने खिलाफ़ कोई न कोई जांच शुरू करवा दें. ... पर आपसे ऐसी किसी भी बात पर बहस बाज़ी फिजूल है, क्योंकि आप ये भीतर की बातें समझ नहीं सकते. ...वैसे अभी मैं एक मीटिंग में जा रहा हूं. दो-तीन घंटों बाद लौटकर आऊंगा. तब तक आप मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो जाइएगा.' कहते हुए दीपक उर्फ दीपेंद्र कुमार तेजी से बाहर निकल गया.

भोलू ने देखा कि चारों ओर अंधेरा घना होता जा रहा है, पर उसने रोशनी नहीं जलायी. इस घने अंधेरे में उसे अपनी ज़िंदगी का बीता हुआ एक-एक पल फिर से तैरता हुआ नज़र आने लगा. उसे अच्छी तरह याद है कि जिस सुशीला ने उसे आज़ादी की लड़ाई में कूदने के लिए तैयार किया था, वह संघर्ष के उन्हीं दिनों में चल बसी थी. भोलू को आज तक इस बात का मलाल है कि वह उसकी अर्थी को अपना कांधा नहीं दे सका. सुशीला की मौत का रहस्य भी काफ़ी दिनों बाद खुला. आज़ादी की घोषणा होने पर जब वह लौटकर अपने घर आया था, तब लोगों ने बताया कि उसकी पत्नी की मौत का ज़िम्मेदार वह ख़ुद ही है. आज़ादी की लड़ाई में जाने के बाद उसने घर की कोई सुध ही नहीं ली, पर उन दिनों उसका पता पाने के लिए पुलिस ने उस बेचारी को अनेक यंत्रणाएं दी थीं. इन्हीं से उसका प्राणांत हो गया. चूंकि गांव के लोगों को भी तब उसके बारे में कोई जानकारी नहीं थी. इसीलिए सब लोगों ने मिलकर सुशीला का अंतिम संस्कार संपन्न किया और उसके लौटने तक उसके बच्चे को पालते रहे.

इस बात के सामने आ जाने पर भोलू को लगा कि कहीं कोई घाव फिर रिसने लगा है, किसी पीड़ा ने फिर से करवट पलट ली है और भीतर जागा हुआ तूफान सब कुछ तहस-नहस करने का पक्का इरादा कर चुका है. तब अपने चारों ओर फैले अंधेरे के बीच भोलू को साफ़-साफ़ नज़र आ रहा था कि आज़ादी की रोशनी का आवाहन करने में उसकी अपनी ज़िंदगी कितने घने अंधेरों में दफ़न हो गयी है. किंतु दूसरे ही क्षण उसने सोचा कि नहीं-नहीं, वह शायद हद से ज्यादा ग़लत सोच रहा है. एक नन्ही सी किरण अभी भी शेष है उसके पास. तब भोलू ने निश्चय कर

लिया था कि सुशीला की यादों को जीवित रखनेवाली इस नन्ही सी किरण को ही वह अपनी कोशिशों से रोशनी के एक भरे पूरे आकार में बदल देगा. इसी आकांक्षा के कारण उसने इस बच्चे का नाम रख दिया - दीपक, जो सुशीला की शेष स्मृतियों का प्रतीक होने के साथ-साथ आज़ादी के युद्ध में उसके द्वारा किये गये अनुष्ठान का प्रतिफल भी सिद्ध होगा.

किंतु दीपक की नियति दूसरी ही थी. वह जैसे-जैसे बड़ा होने लगा, उसके रंग ढंग किसी दूसरे ही रास्ते को पसंद करने लगे. मां थी नहीं और पिता का स्वास्थ्य भी निरंतर गिरता जा रहा था. नतीजा यह निकला कि बदलती दुनिया के खुले पन में बेरोकटोक घुल मिलकर दीपक कुछ दूसरा ही बनता चल गया. दोस्तों ने उसे पिता के नाम का फ़ायदा उठाने की सलाह दी और दुनिया की सारी ऊंच-नीच को अच्छी तरह से समझते हुए उसने अपने पिता के नाम को भुनाना शुरू कर दिया. दीपक जानता था कि बिना मेहनत किये इज़्ज़त और ऐशोआराम की ज़िंदगी इसी रास्ते पर मिल सकती है. इसीलिए अब उसको किसी भी तरह से लोगों से अपनी जय-जयकार बुलवानी है और जनसेवा के बहाने परदे के पीछे अपनी ज़मीन को ठोस रूप में जमाना है.

इधर जब भोलू ने सुना कि उसका बेटा देश सेवा के रास्ते पर ही चलना चाहता है तो बीमार होने के बावजूद वह फूला नहीं समाया. उसे समझ में आ गया कि देश की आज़ादी के बाद उसे विकास की दिशाएं देना भी उसके पूर्व के संकल्पों का ही एक हिस्सा है. अब अगर उसके शेष काम को उसका बेटा पूरा करता है तो यह गर्व की बात है. ऐसे में वह क्यों टोके उसे ? बल्कि यही तो सही रास्ता है. इसलिए उसे अपने बेटे को उत्साहित करना चाहिए. इस मनःस्थिति के बनने पर भोलू ने अपने बेटे को आगे बढ़ाने के लिए खुलकर मदद की. उसे अपने उन तमाम परिचितों से मिला दिया जो अब ऊंची ऊंची जगहों पर बैठे हुए थे. इन सभी माध्यमों के सहारे चतुर दीपक आज़ादी के बाद देश में प्रवाहित अंतर्धारा में शामिल हो गया. प्रारंभ में इन सबसे देश सेवा के लिए आवश्यक मार्गदर्शन पाकर चुपचाप पीछे-पीछे चलता रहा. फिर अपनी गति को थोड़ा बढ़ाते हुए वह इनकी बराबरी में आ गया. लेकिन उसके बाद बहुत कुछ अप्रत्याशित होता गया. बराबरी पर आते ही दीपक ने एक दल छोड़कर दूसरी ओर उछाल लगाई और फिर दूसरे से तीसरी ओर. इसी क्रम में जल्दी ही लोगों ने देखा कि वह अब अपने लिए बनाये दल का सर्वेसर्वा बन गया है. इस चकाचौंध उत्पन्न करने वाली गति को देखकर हर कोई चकित था.

भोलू समझ रहा था कि उसका बेटा सही दिशा की ओर बढ़ रहा है, पर दीपक के भीतर जो खिचड़ी पक रही थी, इसकी कल्पना उसे नहीं थी. आख़िर होती भी कैसे ? दीपक के बढ़ते प्रभाव से आतंकित लोग उसके पिता से क्या कहते और स्वयं भोलू अपनी दमे की बीमारी के कारण लगातार अधिक से अधिक परेशान रहता था. इसी दौरान दीपक अपने पिता को एक बहुत बड़े मकान में ले आया, जिसके एक कोने पर भारतमाता का छोटा सा मंदिर बना हुआ था. किंतु दमे से ग्रस्त भोलू इस मंदिर में भी चैन नहीं पा सका. अपने बेटे को इतनी तेजी से संपन्नता की सीढ़ियों पर चढ़ते देख उसके मन में तरह-तरह की आशंकाएं जागने लगीं. वह दीपक से अब बहुत-कुछ पूछना चाहता था, जानना चाहता था. ऐसे समय दीपक असंगत तर्कों के सहारे उसकी हर जिज्ञासा को हवा में उड़ा देता था. दीपक के जाते ही भारतमाता के मंदिर में देशभक्ति की कैसेट चलने लगती और इसी के साथ भोलू की सांसों के आवागमन के साथ चलने लगते कफ़ के क़तरे.

पर एक दिन कुछ और भी अप्रत्याशित हो गया. उस दिन दीपक के राजमंदिर में बड़े-बड़े अधिकारियों की भारी भीड़ जमा थी और बाहर पुलिस लोगों की बेक़ाबू भीड़ को संभाल रही थे. भोलू को दबी आवाज में किसी ने बताया कि ये सब उनके दीपक को एक बड़े रिश्वत कांड में शामिल होने पर गिरफ़्तार करने आये हैं, किंतु अग्रिम ज़मानत हो जाने से दीपक गिरफ़्तार होते-होते बच गया. भीड़ के छंट जाने पर दीपक शीघ्रता से पिता के सामने आकर कहने लगा कि वे किसी भी अफ़वाह पर् ध्यान न दें. यह सब कुछ विरोधियों के किसी षड़यंत्र का नतीजा है. वह पूरी तरह निर्दोष है और जल्दी ही वह यह सब कुछ साबित कर देगा.

भोलू को इस बार दीपक की किसी बात पर भरोसा नहीं हो रहा था. उसने बाहर निकल कर कुछ लोगों से जानकारी हासिल की. तमाम लोग कह रहे थे कि दीपेंद्र कुमार ने कुर्सी हथियाने के बाद सभी के साथ बेइंसाफ़ी की है. उसकी रुचि हमेशा उन्हीं कामों में रही, जहां से काफ़ी-कुछ प्राप्ति हो सके. पैसों के लिए अपने आपको किसी भी हद तक गिराने में उसे कभी कोई संकोच नहीं हुआ. एक ऊंचे पद पर आसीन व्यक्ति का यह रूप देखकर नीचे के तमाम लोगों ने भी उसका अनुसरण प्रारंभ कर दिया. नतीजा यह हुआ कि भ्रष्टाचार खुल कर नाचने लगा और आम जनता अधिक से अधिक त्रस्त होती चली गयी.

इन तमाम संदर्भों ने भोलू को भीतर तक विचलित ही नहीं किया, दहला भी दिया. सोच-विचार के उलझे हुए अंतर्विरोधी वात्याचक्रों में घिर कर भोलू भीतर से बाहर तक त्रस्त हो गया. अंततः एक अनिश्चित स्थिति में भी किसी निश्चय को तय कर वह दीपक का राजमहल छोड़कर अपने पुराने घर चला आया. इस बात का पता चलने पर दीपक ने पिता को मनाने की कई कोशिशें कीं, पर भोलू ने साफ़-साफ़ कह दिया कि जब तक उसकी अंतरात्मा उसे बेगुनाह नहीं मान लेती, वह उस ओर झांक कर भी नहीं देखेगा.

आज भी जब यह सब कुछ अपने पूरे सिलसिलों के साथ याद आया, तो खांसी फिर उभर पड़ी. उसे याद आने लगे स्वतंत्रता के दिनों के वे संकल्प और इसी क्रम में उसे सुशीला की भी बेतहाशा याद आयी. वे यादें और वर्तमान का यह दर्द जितना तीव्र होता गया, खांसी भी उतनी ही ज्यादा जोर पकड़ने लगी. उसने सोचा

कि असमंजस की तमाम अंतर्विरोधी स्थितियों के बीच कलंकित जीवन को जीने से तो अच्छा यही है कि उसे समाप्त कर दिया जाये. इसीलिए वह प्राणांतक पीड़ा को सहता रहा, पर उसने उस शीशी की तरफ़ अपना हाथ नहीं बढ़ाया, जो उसे इस त्रास से मुक्त कर सकती थी. खांसी की आवाज और घरघराहट तेज से तेज होने लगी, पर इसी बीच जाने कहां से करीम मियां दौड़े चले आये और उन्होंने भोलू को वह सब नहीं करने दिया, जो वह चाहता था. भोलू को लगने लगा कि विधाता अभी उससे और भी बहुत-कुछ वसूलना चाहता है, वरना हाथ में आया हुआ मौक़ा यूं फिसल कर दूर नहीं चला जाता. इसीलिए वह छटपटा कर रह गया. फिर भी उसने अपने मन को अब और भी पक्का बना लिया.

बाहर हॉर्न की आवाज सुनकर भोलू पूरी तरह अपने वर्तमान में आ गया. लंबे समय से अंधेरे में कैद होने के बाद भी उसने दीपक को पहचान लिया. एक पल बाद दीपक की आवाज भी उसके कानों के इर्द-गिर्द भिनभिनाने लगी - 'अरे, ये क्या ! अभी तक रोशनी नहीं जलाई आपने ? हर ओर अंधेरा ही अंधेरा है.' कहते हुए दीपक स्विच को दबाने ही वाला था कि भोलू ने उसे टोक दिया - 'रोशनी मत जलाओ दीपक. इस समय यहां इस अंधेरे का रहना ही ज्यादा ठीक है.'

दीपक ने प्रतिवादी स्वर में पूछा - 'लेकिन आप इस अंधेरे में अपना सामान कैसे समेटेंगे ?'

'उसकी कोई ज़रूरत नहीं है. मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि जब तक मेरे मन को मंजूर नहीं होगा, मैं अपने रास्ते को छोड़ नहीं सकता.'

दीपक ने फिर समझाया - 'देखिए, आप व्यर्थ की जिद कर रहे हैं. अपने किसी ज़माने की ज़िदों को लेकर इस तरह अंधेरों में ही रमे रहना कौन ठीक मानेगा ?'

'पर बेटे, उस तरह के अंधेरों को भी तो कोई ठीक नहीं मानता. बल्कि इन अंधेरों से भी उन्हें बदतर ही मानता है हर कोई. इसलिए पहले अपने राजमहल के हर कोने में जमे हुए अंधेरों को हटाओ, तब मुझे वहां ले जाने के बारे में सोचना, समझे न?'

दीपक बहुत देर बहस करता रहा और भोलू आख़िर तक उसकी हर बात नामंज़ूर करता रहा. इस बार दीपक के द्वारा फेंका गया हर पत्ता बेकार सिद्ध हो गया और भोलू अपने लगाये हुए पौधे के एक-एक पत्ते को अपने सामने गिरते हुए देख रहा था. इस दौरान कभी लोगों का 'इंक़लाब ज़िंदाबाद' का स्वर उसके कानों में गूंज जाता था तो कभी सुशीला की प्रेरक तस्वीर उसकी आंखों के सामने तैरने लगती थी. भोलू ने तय कर लिया कि वह अब दमे का तो सामना करेगा ही, स्थितियों को बदलने के लिए भी पूरा दम लगा देगा. यही सब सोचकर भोलू धीरे से उठा, उसने कमरे का बल्ब जलाया और अपने हाथ दवाई की शीशी की तरफ़ बढ़ा दिये.

२८६, विवेकानंद कॉलोनी,
फ्रीगंज, उज्जैन (म. प्र.) ४५६ ०१०

ग़ज़ल

ज़लज़ला

✍ जयवीर

जी रहा है, ज़िंदगी का, बोझ लेकर आदमी,
है अज़ल पलपल मुक़ाबिल, क्यों जिये फिर आदमी.

ज़लज़ले तूफ़ां बने और कांपती है ज़िंदगी,
यूं हुआ है, अपने घर में आज बेघर आदमी.

ख़ूब इन्सां की तरक्की, इतने पुख़्ता इंतज़ाम,
झेल पाया पर कहां क़ुदरत के तेवर आदमी.

वक़्त के हाथों बिखरती, चूर होती ज़िंदगी,
दूर बैठे, देखता है, हाशिये पर आदमी.

जिस तरफ़ डालें निगाह, है आलमे दहशत वही,
हो जगह महफूज़ कोई, जा बसे हर आदमी.

बेदरोदीवार जो हैं, गूंजती उनकी पुकार,
सुन सकेगा, अपने अंदर झांक ले गर आदमी.

(२५ दिसंबर ०४ को सूनामी से प्रभावित लोगों को समर्पित रचना)

डॉ. जे. वाई यम्मी 'जयवीर'
अध्यक्ष, टीपीपीई प्रभाग, भापअकेंद्र, मुंबई-४०० ०८५
६-ए, पूर्णिमा, रिज़ रोड,
मालाबार हिल, मुंबई-४०० ००६.

लघुकथा

दस्तूर

✍ गोवर्धन यादव

विकराल बाढ़ के हस्ताक्षर अभी पूरी तरह से भी नहीं मिट पाये थे कि सूखे ने आदमी के गाल पर दनादन चांटे जड़ दिये.

जिधर भी नज़र जाती...वीरानी ही वीरानी दिखलाई पड़ती. त्राहि-त्राहि सी मच उठी थी.

इसके बाद...कई सरकारी घोषणाएं हुईं, तरह-तरह की राहतें पहुंचायी गयीं.

विशाल जन सभा को संबोधित करने के बाद एक नेता को हल चलाकर ज़मीन जोतने का दस्तूर करना था.

जैसे ही हल की फाल एक सूखी हड्डी से टकरायी. एक आवाज आयी, "कौन है...चैन से भी सोने नहीं देते कमबख़्त."

१०३ कावेरी नगर, छिंदवाड़ा (म. प्र.) ४८० ००१.

कहानी

अब क्षमा याचना नहीं !

'उस शाम पेड़ों की परछाइयां फिर लंबी होते-होते अंततः धुंधलकें में अपना अस्तित्व खो चुकी थीं. एक विराम के बाद अगली सुबह की शुरुआत के लिए. गहराते अंधेरे में भी झुकी नज़रों से उसने गली में फैले सन्नाटे को छिपकर अपनी ओर ताकते पाया. मालूम नहीं कि सन्नाटा पहले से ही था कि खुसफुसाहट के बाद हुआ - कहीं अधिक मुखर. पड़ोस के बंद खिड़की, दरवाज़ों में अनेक नेत्र उग आये थे. इन अदृश्य आंखों में घृणा और लिज़लिज़ाहट भरी उत्सुकता को उसने महसूस कर लिया.

मिसेज मित्तल तो निःसंकोच, महिला पुलिस कर्मियों के बीच उसे आता हुआ देख शायद सब कुछ जानते हुए भी अनजान बन उसके पास सब कुछ दरयाफ़्त करने चली आतीं परंतु मौक़े की नज़ाकत और पुलिस कर्मियों के चेहरे देख अपना कार्यक्रम स्थगित कर दिया. स्थानीय समाचार पत्रों मे तो वह घटना अथवा दुर्घटना छप ही चुकी थी. संयोग था अथवा संबंधित पुलिस अधिकारी या अख़बार वालों की सदाशयता कि उसका नाम ख़बरों में नहीं था. जैसा कि होता है, उसने सोचा, लोग इसका विवरण चटखारे लेकर पढ़ रहे होंगे. 'च्' 'च्' करके मुस्कराहट दबाने के असफल प्रयास के साथ, सहकर्मियों, मित्रों की ओर इंगित करते हुए. नाम न होने पर भी सब कुछ जान लेने के दावे भी.

यात्रा घर के सामने समाप्त हुई. साथ की महिला पुलिस कर्मियों ने उसकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखकर दरवाज़े की घंटी बजायी थी. दरवाज़ा धीरे-धीरे, जैसे तिलिस्म की भांति, खुला था. थोड़े से खुले किवाड़ के पीछे उसकी सास ने, चौकन्ना होकर, झांका. उन्हें देख कुछ क्षण ठिठकने के बाद, अनिच्छा से, एक ओर हट गयी. उसे नित्य का जाना पहचाना नहीं बल्कि एक अनंत अंधेरी सुरंग का द्वार लगा. ड्राइंगरूम में अंदर से पति और ससुर भी आ गये थे. उसने सांड़ी का पल्ला सिर पर कुछ आगे खींचने का उपक्रम किया. महिला सिपाहियों ने, उसके पति से, उसकी बरामदगी और यथा स्थान सुपुर्दगी के लिए कुछ काग़ज़ों पर हस्ताक्षर कराये. कुछ पल ठिठकीं. उसकी आंखों में कुछ प्रत्याशा फिर असमंजस उभरा - बिना कहे अप्रत्याशित ढंग से चली गयी.

माहौल में एक चुप्पी घुली थी. ठीक शमशान से लौटने के बाद जैसी. उसका मन और शरीर बुरी तरह थके हुए थे. ध्वस्त कवच कुंडलों के बाद पराजित योद्धा की भांति. उसकी तात्कालिक आवश्यकता, इस समय एक कप गर्म चाय के साथ कुछ खाने की थी. पिछले चौबीस घंटों में, सुबह थाने में, एक कप चाय और दो बिस्किट मात्र लिये थे. उसने कमरे में स्वयं को अकेला पाया. भीड़ में छूट गयी एक असहाय बच्ची की भांति उसने निरीह भाव से चारों ओर देखा. वह ज़मीन पर ही एक ओर भहरा पड़ी. मिनी उसकी पंद्रह सोलह वर्षीय ननद जाने कब उसके लिए चाय और कुछ खाने को ले आयी थी. उसने कातर दृष्टि से उसकी ओर देखा और रो पड़ी. तभी अंदर से मिनी को बुलाने की सास की आवाज, दबी परंतु तीखे स्वर में, सुनाई दी. वह चुपचाप चली गयी. थकान के कारण उसकी आंखें बोझिल हो रही थीं. वह देर तक यूं ही पड़ी रही. शायद रात काफी बीत गयी थी. उसको आश्रय की तलाश थी. पति के कंधे से लग कर रो लेना चाहती थी. पति का सांत्वना भरा स्पर्श उसका संबल बन सकता था. लेकिन उसे मालूम था - यह उसकी मृगतृष्णा मात्र है. मालूम तो उसे विवाह के तुरंत बाद हो गया था.

❄ प्रताप दीक्षित ❄

एक सामान्य सी लड़की का जो अभीष्ट होता है अधिक उसकी कामना भी कब थी. निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों में लड़कियों को अभावों के साथ तारतम्य स्थापित कर लेने में किसी अतिरिक्त प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती. विज्ञान की छात्रा होने पर भी साहित्य और कला के प्रति उसकी रुचि ने उसमें गहरी संवेदनशीलता के साथ ही भावनाओं को नियंत्रित कर परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता उसमें विकसित कर दी थी. वह पिता को उसके विवाह के लिए प्रयासरत और निराश होते देखती. प्रायः उसकी नुमाइश का भी आयोजन होता. अक्सर बात निष्कर्ष तक पहुंचने के पहले ही समाप्त हो जाती. वह अंदर से आहत परंतु ऊपर से सहज बनी रहती बल्कि उसमें एक खिलंदड़ापन दिखाई देता. उन लोगों के जाने के बाद, शरारतन, लड़के वालों की नकल उतारती, खिलखिलाती.

उसके बैंक में नियुक्ति के बाद पिता को आश्वस्ति अवश्य हुई थी. लेकिन उनकी आशा का आधार निर्मूल ही सिद्ध हुआ. विवाह के अर्थशास्त्र में दहेज की अपेक्षित मांग, उसकी बढ़ती उम्र के अनुपात में बढ़ गयी थी.

अंततः उसका विवाह, उससे केवल दस वर्ष बड़े चिरंजीव सुधीर कुमार, कनिष्ठ अभियंता, पी.डब्ल्यू.डी. - आत्मज पंडित कालिका प्रसाद के साथ, तमाम विघ्न बाधाओं के उपरांत भी संपन्न हो ही गया. यों जीवन का यह आख्यान यहां समाप्त हो सकता

है. परंतु कहानी में तो ऐसा नहीं चल सकता. जीवन में भी ऊपरी तौर पर तो सब कुछ सामान्य प्रतीत होता है यथार्थतः उसमें भी विराम कहां आता है.

विवाह पूर्व ससुराल पक्ष द्वारा तमाम आधुनिक और पारंपरिक वस्तुओं की नित्य परिवर्तित लिस्ट तथा रिश्ता कहीं और देख लेने की बार-बार धमकी-नुमा सलाह - आदि अनपेक्षित तो नहीं ही थी. शुक्ल जी जिला न्यायालय के अवकाश प्राप्त पेशकार थे. उन्हें आसामियों से मोल-भाव करने का अनुभव था. साम, दाम भेद आदि. वह कहते, 'भइये, यह लोग तारीख़ पर जेब भरकर आते हैं लेकिन निकालते हैं मुश्किल से पांच रुपल्ली. गिड़गिड़ायेंगे. कसमें खायेंगे, जरा सी ढील दी कि गया हाथ से.'

वे हंसते हुए अपना अनुभव सुनाते, 'अरे चौधरी, जरा दूसरी तरफ़ की जेब तो देखो. इतने बड़े आदमी की जेब ख़ाली हो, हो ही नहीं सकता.' कभी-कभी सचमुच कोई कंगला भिखारी टकरा जाता. उस दिन घर लौटने तक उनका मूड ऑफ रहता.

यदि इन बातों को ऐसे अवसरों की सामान्य प्रक्रिया मान भी लिया जाय तो बाद में सब कुछ ठीक हो जाने जैसा भी तो कुछ नहीं हुआ था.

ससुर गृह में किसी औपचारिक अथवा अनौपचारिक सहृदयता की ख़ास तौर से औरतों के साथ - परंपरा तो थी नहीं. शुक्ल जी को पछतावा ऊपर से था. भट्ठे वाले अवस्थी जी मुंहमांगी रकम दे रहे थे. इंजीनियर बेटे और पी.डब्ल्यू.डी. की कमाऊ नौकरी - कोई रिश्तों की कमी थी. क़िस्मत फूटी थी जो कंगालों के यहां फंस गये. और बहू का रोज़ मुंह उघाड़े निर्लज्जों की भांति नौकरी पर जाना. उसकी नौकरी ने उन्हें एक धर्मसंकट में डाल दिया था. उनकी मान्यताओं के अनुसार 'खाना, पाख़ाना और ज़नाना' घर के एकांत में सबकी नज़रों से दूर ही होना चाहिए. परंतु उसका वेतन ! वे सांस भर कर शास्त्रों में इसका समाधान खोजने का प्रयास करते और 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' कह तसल्ली कर लेते. सुधा को परिवार से इस सबकी अपेक्षा भी नहीं थी. उनकी इतनी उदारता क्या कम थी कि उसकी नौकरी नहीं छुड़वा दी. परंतु पति से उसे जिस सहज अंतरंगता, सम्मान, सुरक्षित आशय और विश्वास की उम्मीद थी उससे जल्दी ही उसका मोहभंग हो गया. पति के मन में कॉम्प्लेक्स था. ऊपरी आमदनी ज्यादा होने पर भी वेतन पत्नी से कम. शिक्षा हाईस्कूल के बाद पॉलिटेक्निक का डिप्लोमा मात्र, जबकि सुधा प्रथम श्रेणी में एम.एस.सी. परंतु सुधीर के लिए पुरुष होना ही महत्वपूर्ण था. वह अक्सर मुंह में पान या गुटखा गुलगुलाते हुए कहता, 'औरत आख़िर औरत है. रहना तो उसे मर्द के नीचे ही है.'

वह ठहाका लगाता.

शुरुआत पहली ही रात हो गयी थी. सुधा को पढ़ी-सुनी कल्पनाएं और इस रात के लिए संजोये गये सपने झूठ लगे थे.

३० सितंबर १९५२,
एम. ए. (हिंदी साहित्य)

रचनाएं : *पहली रचना १९७८ में "कहानी" - में प्रकाशित. वर्तमान साहित्य, वागर्थ, कथाक्रम, अक्षरा, संचेतना, लोकायत, सहारा समय, अब, सनद, सरिता, दैनिक जागरण, अमर उजाला, हिंदुस्तान, नवभारत, नवजीवन, पायनियर, पंजाब केसरी आदि में कहानियां, व्यंग्य, लघुकथाएं अनवरत प्रकाशित. कुछ का बंगला में अनुवाद.*

पुरस्कार : *उ.प्र.हिं.प्र.सं. द्वारा आयोजित कविता प्रतियोगिता में तत्कालीन उ. प्र. राज्यपाल द्वारा पुरस्कार (१९७३).*

विशेष : *स्वामी रामतीर्थ संस्थान द्वारा प्रकाशित एक अनियतकालीन पत्रिका का सौजन्य संपादन.*

संप्रति : *भारतीय स्टेट बैंक में अधिकारी.*

पति ने पी रखी थी. अब होली, दीवाली या शादी-ब्याह जैसे मौक़ों पर पीना भी क्या पीना कहा जायेगा. न मात्र वस्त्र बल्कि लाज, शर्म, संकोच के आवरण भी तार-तार हुए थे. उसके निरावृत्त शरीर को झिंझोड़ते उसने प्रश्न किया था, 'यह कैसे मान लूं कि इस उम्र तक यह अनछुआ रहा होगा ?'

वह अक्सर इस प्रकार के प्रश्न करता. उत्तर की उसे ज़रूरत भी नहीं थी. शायद वह गोपनीय क्षणों में अंतरंगता पैदा करने के लिए यह सब करता. परिवार का सुशील, आज्ञाकारी और दूसरों के लिए आदर्श पुत्र था वह. ऊपरी आमदनी, ठेकेदारों की संगति के बाद भी पूजा-पाठ नियमित रूप से करता. इसलिए उन्हें भी मातृ-पितृ भक्ति मिलते कहा है. उसकी दृष्टि में पुरुष और नारी क्षेत्र अलग-अलग थे. उसको समय से भोजन और रात को पत्नी की ज़रूरत होती.

अब ऐसा नहीं कि इसके लिए वह पालतू बन जायेगा. वह देर रात से आता. पत्नी के कुछ कहने पर वह उत्तर देता, 'मर्द का घर में शाम से ही घुस जाने का क्या मतलब ?'

उसकी किसी समस्या पर वह मां से कहने के लिए टाल देता. उनके विरुद्ध तो कुछ सुनना भी उसके लिए अपराध था.

यह सिलसिला निरंतर चलता रहा. सुधीर न उसका मन देखता न भावनाएं. वह अपने को न्यायोचित भी सिद्ध करता, 'औरत अनपढ़, गंवार हो, या पढ़ी-लिखी अफ़सर, चाहती यही सबकुछ है.'

उसे समर्पण का श्रेय भी न मिल पाता. सुधीर अपना प्राप्य वसूल कर ख़र्राटे लेने लगता. दैहिक आवेग से उसकी शिराएं तन जातीं. उसका तन, मन और आत्मा अतृप्ति के रेगिस्तानों में भटकते रहते. ऑफिस जाने के पहले और बाद घर के कामों का दायित्व तो उस पर था ही. कभी उठने में देर होने पर सास, 'घोर कलियुग आ गया है. ऐसी भी क्या जवानी.... ' वे उसकी जवानी को अलापतीं. प्रतिमाह उसका वेतन सहेज, गिन कर शुक्ल जी को दे देतीं. वे इस अवसर पर सदा की भांति दोहराते, 'इससे कहो घर परिवार में रमें. हमारे खानदान में औरतें घर से पैर नहीं निकालतीं.'

वे रुपये एक बार पुनः गिनते. जनेऊ में बंधी चाभी से अलमारी खोल रुपये रख देते. अक्सर उसकी साड़ी, लिपिस्टिक और फैशन पर टिप्पणी होती, 'हरि ओम, हरि ओम, एक दिन ज़रूर नाक कटेगी. बहु स्वतंत्र होहि बिगरहिं नारी.'

एक बार उसने वेतन मिलने पर छोटे भाई को, उसके जन्मदिन पर, घड़ी ख़रीद कर दे दी थी. रुपये कम देखकर घर में कहर सा आ गया था. सास अशिक्षित होने पर भी इतना तो जानती ही थी कि वेतन हर बार से कम है. उन्होंने एक बार फिर गिना. ससुर जी अलमारी में रुपये रखने के लिए तैयार खड़े थे. वे अवाक रह गये. इस अवसर पर दोहराया जाने वाला संवाद भी बोलना भूल गये.

'इस बार वेतन कम है. शायद डी.ए. कम हो गया है. महंगाई जो बाजार में कम हो गयी है.' उन्होंने कटाक्ष किया.

'जी नहीं.'

'फिर ?'

'डब्बू का जन्म दिन था न.'

'डब्बू ? तो... ?' स्वर में तेजी के साथ अनभिज्ञता का भी भाव था. जानते हुए भी अनजान बने. वे प्रतिपक्षी को हतप्रभ करने की कला में पारंगत थे.

'जी वह छोटा भाई. उसे घड़ी ख़रीद दी थी. जन्म दिन पर.' उसने साहस जुटा कर स्पष्ट किया.

'अ....रे.'

फिर तो कंगलों का वरद्गान. निठल्ले भाई और मां बाप का बेटी की कमाई खाकर नर्क में भी ठौर न मिलने की निश्चितता का वर्णन कई दिनों तक होता रहा.

शुक्ल जी कई माध्यमों से उसे मिलने वाले वेतन, डी.ए. के स्लैब्स एवं अन्य लाभों आदि के संबंध में, पूरी जानकारी रखते. लगभग सभी प्रकार के ऋण उसे लिवाये जा चुके थे. उसे निजी आवश्यकताओं के लिए ससुर पर निर्भर रहना पड़ता. बाकायदा सवाल जवाब होते.

'अभी पिछले ही सप्ताह तो पूरे सौ रुपये लिये थे ?'

'जी. पचास रुपये एक स्टाफ़ की फेयरवेल पार्टी में दे दिये.'

'और बाक़ी पचास ? फिर फेयर-वेयरफेल में तुम्हारी क्या ज़रूरत ?'

'कहा नहीं हम तो लेडिस हैं.'

वह टूटती गयी. घर, नौकरी, पति, परिवार. वह चुक गयी थी. ससुर जी की टिप्पणियों पर व्यथित होकर उसने नौकरी छोड़ देने का निश्चय कर लिया. पूरे सप्ताह बैंक नहीं गयी. सभी हतप्रभ रह गये थे. शुक्ल जी बड़बड़ाये, 'मुझे दोष मत देना. मैं तो ख़ुद ही झेल रहा हूं. कंगले बाप ने तो धोती खोल दी थी. इंजीनियर बेटे ऊपर से कमाऊ नौकरी. लाखों मिल रहे थे.'

सास ने जब उसे टस से मस होते न देखा तो आशंकित हो सिर पीटने लगीं, 'यह तिरिया चरित्र दिखाया जा रहा है !'

सुधीर संभवतः पहली बार कुछ सहज हुआ था, 'यह क्या ? बड़ों की बात पर इस तरह ज़िद करते हैं. तुम्हारे पिता के समान हैं. कुछ कह दिया तो क्या ?'

साथ ही धमकी भी, 'यदि मन की ही करनी है तो यहां ज़रूरत नहीं है. पिता के घर जाओ.' वह समझ गयी नौकरी पर तो जाना ही होगा.

विवाह के सात वर्ष के बाद भी मां न बन पाने पर सास तानें देतीं. झाड़ फूंक भी करातीं. चिकित्सकीय जांच में वह सामान्य थी. सुधीर को जांच की आवश्यकता नहीं थी. वह तो मर्दानगी का सुबूत देने के लिए तत्काल तत्पर हो जाता.

एक दिन मां की मृत्यु का समाचार उसे मिला था. वह फूट फूट कर रो पड़ी. एक सप्ताह भी मायके में नहीं रुक पायी थी. पिता नितांत अकेले रह गये थे. रात में सुधीर ने उसे खींचा. यद्यपि उसने प्रतिरोध करना जाने कब छोड़ दिया था. मनःस्थिति ठीक न होने के कारण उसने विरोध किया. शायद इस समय सुधीर का मूड कुछ ठीक था अन्यथा एक झन्नाटेदार तमाचा या लात पड़ना निश्चित था. वह हंसा, 'अब सन्यास तो तुम्हारे पिता को लेना चाहिए. मेरी तो अभी जीवित है.' वह निस्पृह हो गयी. नौकरी से मोह नहीं. बैंक जाने का एक ही कारण रह गया था. वह काम के उन घंटों में सब कुछ भूल जाती. निष्ठा तो उसमें सदैव से रही थी. कर्तव्यपरायणता भी. जहां अन्य सहकर्मी देर से आते, जल्दी जाते. वह दोपहर तक ग्राहकों के कार्य निपटाती. कार्य उसकी सीट का होता अथवा किसी अनुपस्थित सहकर्मी का. बैंक के ग्राहक उससे प्रसन्न रहते. दो बजे के बाद बैंक के आंतरिक कार्य, खातों का संतुलन, कैशबुक, पत्राचार आदि. पिछले दिनों एक प्रमोशन के बाद उसका स्थानांतरण शहर की इस आख़िरी कोने की शाखा में हो गया था. कभी सुधीर छोड़ जाता. अधिकतर वह बस या

टेंपों से आती जाती. इन दिनों इन्सपेक्शन एवं ऑडिट के कारण बैंक से चलते बहुधा देर हो जाती. उस दिन उसने ऑडिट हेतु आवश्यक रिटर्न्स, प्रपत्र अंतिम रूप से तैयार किये थे. बाहर निकलते निकलते केवल वर्मा रह गया था. उसने स्कूटर निकालते हुए संकोच के साथ उससे पूछा था. उसने विनम्रता के साथ मना कर दिया. वह तो सोच भी नहीं सकती थी. पति पहले से ही संदेह करता था. उसकी दृष्टि में नौकरी पेशा लड़कियों का चरित्र विश्वसनीय नहीं होता. ससुर जी भी शास्त्रों के श्लोकों से प्रमाण देते जिनके अनुसार स्त्री और पुरुष आग और फूस की भांति हैं. जितना संभव हो एक दूसरे से दूर रहना चाहिए.

कुछ कुछ अंधेरा हो आया था. तेज हवाएं और आसमान से बूंदा बांदी भी शुरू हो गयी थी. वह जल्दी जल्दी पास के टेंपो स्टैंड तक गयी. वहां एक भी टेंपो नहीं था. उसे पता चला दोपहर बाद टेंपो चालकों की हड़ताल हो गयी थी. शहर से दूर होने के कारण वहां से रिक्शे भी कम ही मिलते. वह असमंजस में थी. कहीं से घर के पड़ोस में फोन हो सकता. तभी एक रिक्शा आता दिखा. वह जल्दी से उसे रोक बैठ गयी. अब तक वह काफ़ी भीग गयी थी. कैंट तक आने के पहले, रास्ते का कुछ हिस्सा ऐसा था, जहां सन्नाटा अधिक रहता. सड़क के दोनों ओर दूर दूर तक जंगलनुमा ख़ाली मैदान, फैले पेड़ और झुरमुट. रोज़ तो आटो या बस में सवारियों के बीच महसूस न होता. उसे लगा रास्ता आज अधिक ही लंबा हो गया था. तभी रिक्शा लड़खड़ाया और रुक गया. रिक्शे वाले ने उतर कर जांच की. रिक्शे का एक्सेल सड़क के खांचे में पड़ कर टूट गया. पहले तो वह बैठी रही.

जब यह निश्चित हो गया कि रिक्शे का चलना संभव नहीं, विवश हो, उतर पड़ी. पानी तेज हो गया था. दूसरे रिक्शे, टेंपो या बस की प्रतीक्षा के अतिरिक्त अन्य विकल्प भी तो नहीं था. वह आश्रय के लिए सड़क के किनारे एक गुमटीनुमा दूकान के नीचे दौड़ कर पहुंची. कपड़े भीग कर शरीर से चिपक गये थे उसने अब देखा, दूकान में चार पांच किशोर से युवा पहले से ही मौजूद थे. बिजली चमकी थी. उसने देखा उनकी उम्र अठारह बीस से अधिक नहीं रही होगी. फिर भी उसे संकोच हुआ. वह अपने में ही सिमट गयी. लड़के लगातार बातें किये जा रहे थे. ठीक वैसी ही जैसी इस उम्र में करते हैं - कॉलेज, अध्यापक, बेकारी, फिल्मी और लड़कियों की. बातों से उनकी आंखों में तैरते सपने, भविष्य की आशंकाएं और हताशा स्पष्ट थे. उसे लगा इस प्रकार बोल कर इन्हें अपनी कुंठाओं से कुछ देर के लिए ही सही मुक्ति मिल जाती होगी. उसे अपने भाई की याद आ गयी. नौकरी की तलाश में प्रयासरत बुझा-बुझा सा रहने लगा था. मां के न रहने के बाद और अधिक गंभीर और अकेला. उसे दुःख होता. वह उसे साहस बंधाती. मजबूरियों के तहत उसके लिए कुछ अधिक कर भी तो नहीं सकती थी. वह उसे नितांत भोला, दुनियादारी से दूर लगता था. उस दिन वह हतप्रभ रह गयी थी. वह पिता के यहां आयी थी. भाई के कमरे में कुछ ढूंढ़ते अलमारी में कुछ ऐसी पुस्तकें और चित्र हाथ लगे, वह चौंक गयी. स्त्री पुरुषों के संबंधों वाली सचित्र परंतु सस्ती पुस्तकें. उसका मन हुआ भाई के आने पर उसे खूब डांट फटकार लगाये. लेकिन उसके आने पर कुछ संकोच और उसके चेहरे की मासूमियत देख कुछ कह नहीं सकी थी. उम्र का तकाज़ा मान चुप रह गयी थी. वह विचारों में डूबी रही. कब लड़कों का ध्यान भीगे कपड़ों से झलकते उसके शरीर की ओर गया और कब वह उनकी चर्चा का केंद्र बन गयी थी, उसे जब तक पता चलता और वह स्वयं में लौटती, सावधान होती - यदि संभव होता - तब तक देर हो चुकी थी. छेड़छाड़, स्पर्श आदि से प्रारंभ क्रियाओं का अंत उनके हाथों की जकड़न में हुआ. उसके मुंह से चीख निकल नहीं सकी अथवा बरसात के कारण किसी ने सुनी नहीं. प्रतिरोध अत्यंत स्वाभाविक था. लेकिन वह पस्त हो गयी. उसका मुंह दबा कर मैदान की ओर ले जाया जा रहा था. चेतना लुप्त होने से पहले तक वह, अपने शरीर के क्षत-विक्षत होते जाने की सामूहिक प्रक्रिया की गवाह रही.

अर्द्ध रात्रि के लगभग बाद उसकी अचेतन अस्त-व्यस्त काया गश्ती पुलिस को सड़क के किनारे पड़ी मिली.

अगले पूरे दिन रिपोर्ट, डॉक्टरी परीक्षण, बयान आदि चलते रहे. उसे प्रतीत हुआ कि 'कल' फिर दोहराया जा रहा था. उसके घर ख़बर भेज दी गयी थी. थाने में सुबह-सुबह पति और ससुर आये भी थे. उन्हें देख उसकी टूटती हिम्मत बंधी थी. परंतु वे कुछ देर बाद लौट गये.

ऊपर के कमरे मे एक आपात्कालीन मीटिंग आयोजित की गयी थी. मिनी को छोड़ ससुर, पति, सास और देवर सभी उपस्थित थे. अभियुक्त के रूप में उसकी पेशी हुई. घर में अब उसके बने रहने अथवा स्थायी निष्कासन के संबंध में निर्णय एकमत नहीं था. कारण कई थे - एक ओर उसके चरित्र की काली छाया मिनी पर न पड़ने देने का प्रयास तो दूसरी ओर उसके वेतन, फंड के अग्रिम से उसके विवाह में योगदान की भी तो चिंता थी. देवर की अपनी समस्याएं थीं. इसके अतिरिक्त अख़बार में नाम न होने पर भी शक पूरे मोहल्ले में उसी पर था. वैसे भी उसको लेकर सरगोशियां, कानाफूसी होती रहती. लगभग, दफ़्तर आने जाने का समय भी नोट होता रहता. मिसेज शर्मा, तो कल से दो तीन बार आकर लौट भी चुकी थीं. हर बार किसी न किसी बहाने बहू को भी पूछ लिया था.

'अब अचानक इसको भेज देने पर सबके संदेह की पुष्टि हो जायेगी,' पति ने कहा.

देवर ने अपनी राय दी, 'इस केस की इन्क्वायरी चलेगी. अभी इसकी पुलिस को बयान की ज़रूरत होगी. भेज देने पर वे नाराज़ होंगे.' तभी सास को याद आया, 'वह इलाका तो मुसल्लों

का है. ज़रूर वे मुसल्टे रहे होंगे.... हाय..., इज़्ज़त के साथ धरम भी गया.' वे डकरायीं.

'चोप साली..... ' शुक्ल जी चिंघाड़े, 'अब ढिंढ़ोरा पीटना चाहती हैं'.

कुछ फैसला न हो सका, सिवाय इसके, दोष उसी का है. औरत जब तक न चाहे कोई कुछ नहीं कर सकता. सभी उठ गये थे. कमरे में वह अकेली रह गयी थी. जाने कितनी देर हो गयी. समय के उन असंख्य पलों में उसने पूरा जीवन, अपनी समस्त यातनाओं, विद्रूपताओं और ख़ालीपन के साथ एक बार फिर से जी लिया था.

कमरे में निपट, निष्पंद एकांत था. उसने महसूस किया कि समय की धारा में पृथ्वी सदा की भांति अपनी धुरी पर घूम रही है. सबसे असंपृक्त.

पति, परिवार, शहर पूरा परिवेश - सब कुछ कहीं दूर छूट गया है. अपनी ज़गह पर स्थिर होते हुए भी उसने कितनी यात्रा कर ली है. अंततः अंधकार में सब से कट कर वह स्वयं में स्थित थी. वह ही तो महत्वपूर्ण है. उसकी अस्मिता, अस्तित्व, स्वप्न, निजी दुःख दर्द, उसका अपना जीवन. उस एक क्षण में, पुरे विराट्य के बीच, संभावनाओं के अनंत द्वार उसके चारों ओर खुल गये थे.

अपने रूप के इस पक्ष से वह अब तक नितांत अपरिचित ही थी और जाना भी तो किन परिस्थितियों में. उसने अपने मन, शरीर और आत्मा के साथ एकात्म का अनुभव किया. साथ ही अपार शांति का भी.

अंतःयात्रा के बाद जब वह कमरे में लौटी तो पाया कि घर की सभी बत्तियां बंद हो गयी थीं. गहरा अंधेरा. गली की ओर खुलने वाले दरवाज़े से कुछ प्रकाश छन रहा था. पहले तो उसे यह रोशनी गली से सरकारी बल्ब की लगी परंतु जब यह लगातार खिलता गया और कमरे में सुनहलापना भरने लगा तो उसे विश्वास हो गया कि यह तो आने वाले दिन की आहट थी. उसकी इच्छा हुई वह छत पर जा उगते सूरज को देखे.

सभी उठ गये थे. एक दूसरे से नज़रें चुराते. वह तैयार हुई. रविवार होने से अवकाश था. मिनी चाय नाश्ता ले आयी. उसने पेट भर खाया. चाय तो एक कप और मांग कर पी. सब ने उसकी ओर आश्चर्य से देखा. तभी सुधीर उसके पास आया. उसका पुरुष अपने अहं की तुष्टि चाहता था, संभव है उन लोगों का उद्देश्य केवल लूटपाट करना ही रहा हो. 'कुछ और' हुआ हो ? उसने सुधा से आश्वस्त होना चाहा. सुधा का तनिक सा झूठ उसके अहं को टूटने से बचा सकता था. संदेह का लाभ मिलना तो निश्चित था ही. वह सजग हो गयी. उसके अंदर की हिंसक बिल्ली पंजे मारने को उद्धत हो उठी.

'नहीं. मैं बरबाद हो गयी !' उसने घुटनों में सिर छिपा लिया.

सुधीर का चेहरा दयनीय हो आया. उसने फिर प्रयास

किया, 'तुम तो शायद बेहोश हो गयी थीं. तुम्हें ठीक से याद तो है ?'

'मेरी चेतना उस समय तक बाक़ी थी.' उसने ठंडे स्वर में जवाब दिया.

'जा मर !' वह चला गया.

वह उठी और सास के पास जाकर रोने को आयी, 'बाबू जी ठीक ही कहते थे. उनकी भविष्यवाणी कितनी सच निकली. जैसे सबकुछ पहले से ही जानते रहे हों.'

सास ने उसकी ओर झुंझलाहट भरी दृष्टि से देखा, 'तो ?'

उसकी खिलखिलाने की इच्छा हुई. उसे खेल लग रहा था. निरंतर चलने वाला एक घिनौना खेल. पति, सास, ससुर, मोहल्ले के लोग, वे लड़के सभी के चेहरे एक दूसरे के धड़ों पर बदलते जा रहे थे. कंप्यूटर ग्राफिक्स की भांति. पति और विवाह स्त्री की संपूर्ण परिधि को नियंत्रित करने का ही नाम है क्या ? यह वे संबंध क्यों नहीं जो इसे पूर्णता दे सकें. इससे तो उन लड़कों में कुछ झिझक बाक़ी थी. अनाड़ीपन के ही कारण क्यों न रही हो. वह नीली शर्ट वाला, सीधा साधा सा दिखने वाला, लड़का साथियों द्वारा उत्प्रेरित किये जाने पर भी कैसे शर्माये जा रहा था.

अगले दिन सबकी आशा के विपरीत वह बैंक जाने के लिए तैयार हुई. शोख़ कपड़े. मेकअप रोज़ की तरह हल्का नहीं. उसने निश्चय कर लिया था कि अधूरे सच वाली ज़िंदगी अब वह नहीं जियेगी. उसका जीवन अपना है. क्या इसका एक अंश भी उसके अपने लिए नहीं. न किये गये अपराधों के लिए वह कब तक क्षमा मांगती रहेगी. वह सीता की भांति न तो अग्निपरीक्षा देगी ना ही पृथ्वी में समायेगी.

एक नये संकल्प के साथ उसने अंतर्मन की आशंकाओं को झटक कर निकालने की कोशिश की. ड्रेसिंग टेबिल के सामने वह मुस्करायी. दर्पण में उसकी आंखों में आत्मविश्वास की चमक थी.

३६/४८, राममोहन हाता, कानपुर-२०८ ००१.

कहानी

एक नहीं दो प्रतिज्ञाएं

हमारी गर्मियों की छुट्टियां, प्रायः मामाजी के घर बीतती थीं. मामा शहर में रहते थे, इसलिए हम भाई-बहिन, शहर देखने को लालायित रहते थे.

हम ग्रामीणों को हमारी मामियां कदापि सहन नहीं करती थीं. हमें देखते ही नाक-भौं सिकोड़ती थीं. बाई को बुरा लगता था, परंतु हमारी ख़ातिर वह सब कुछ झेल जाती थीं.

बाई अपनी तरफ़ से मामियों को ख़ुश करने की पुरज़ोर कोशिशें करती थीं. पर नतीजा, टांय-टांय फिस्स. वह अपनी पोटलियों में चना, ज्वार, मक्की, बेर-भाजी, आम-नीबू, आंवले का अचार, सौगात में लातीं, फिर भी मामियों का मुंह फूला का फूला ही रहता.

काकाजी कहते - "जाओ, ज़रा बच्चों को शहर की हवा खिला लाओ. गांव में तो भुच्च बने रहेंगे बच्चे." शायद यही एक ख़ास वज़ह थी, जिससे बाई को अपने भाइयों के घर आना पड़ता.

मामा सभी नेक थे, पर मामियां शैतान की ख़ालाएं थीं. उनके सामने मामा पूंछ हिलाते रहते. मामा रिरियाते से प्रतीत होते.

बाई के हाथ की मोटी-मोटी रोटियां मामों को खूब भातीं. शुद्ध घी से चुपड़ी हुई दर्जनों रोटियां खाकर भी मामे डकार लेना भूल जाते. मामियां हम लोगों के प्रति ब्याज स्तुति, ब्याज निंदा, जी भरकर इस्तेमाल करतीं. प्रायः वे हमें मोटे, बेशरम कहा करतीं.

मामाओं के बच्चे जब हमारी लंबी-लंबी चोटियां खींचते तो मामियां ठिल-ठिले हंसकर ख़ूब मज़े लेतीं. बाई मामियों की बदमाशियां खूब जानती थीं, पर विवशता थी, मंद-मंद मुस्कुराती रहतीं.

बाई का बनाया 'सत्तू' मामाओं को भाता, पर मामियां 'हत, थू' कहकर उल्टियां करने दौड़ जातीं. वे स्वयं तो अपने मायके चली जातीं, लेकिन बाई के मत्थे, अपने दर्जन भर बच्चे यहीं छोड़ जातीं. मामियों का टुच्चापन मुझे कहीं गहरे, खूब गहरे वेध जाता था.

मैंने प्रतिज्ञा की थी - 'भविष्य में चाहे जो हो, मैं अब मामाओं के घर कभी नहीं जाऊंगा, और न कभी बाई को ही उधर जाने दूंगा.' बाई रोकर कहने लगीं - "बचवा, प्रतिज्ञा करना सरल है, पर उसे निभाना कठिन है. मुरलीवाले तेरी लाज रखेंगे."

मुझे अच्छी तरह से याद है कि फिर कभी मैं अपने मामाओं के यहां नहीं गया, और न ही कभी बाई ही अपने भाइयों के यहां मेहमानी करने वहां गयीं. बाई मेरा रक्षा-कवच थीं, यदि वे ही टूट जातीं तो भला मेरा वजूद क्या रह जाता.

मेरा वजूद बना आठवीं की परीक्षा के बाद. पूरे प्रदेश में अव्वल आया था मैं. वहीं मामाओं के लड़के सप्लीमेंटरी से ही जूझ रहे थे. सांप-सीढ़ी का खेल खेल रहे थे.

आठवीं के बाद जो वज़ीफ़ा मिला, वह इंजीनियर बनने तक चलता रहा. क्योंकि मैं क़िताबों में गुम हो गया था. क़िताबें ही मेरी दोस्त, रिश्तेदार थीं. उन्होंने कभी मुझसे दग़ा नहीं किया, हमेशा अव्वल दर्जा ही दिलाती रहीं. वहीं मामाओं के लड़के मेट्रिक, इंटर से आगे नहीं बढ़े... कई तो एक-दो नहीं पूरे पांच साल तक कुलांटे खाते रहे.

मैं इंजीनियर बन गया था. बाई की तपस्या पूर्ण हुई थी. मुझे याद नहीं कि मेरी पढ़ाई के दौरान उन्होंने कभी नयी साड़ी, नया ज़ेवर पहना हो. हर हाल में ख़ुश रहने की कला न जाने वह, कहां से सीख आयी थीं.

कुंवर प्रेमिल

मैंने जब ऑफिस ज्वाइन किया तो पता चला कि दोनों मामा इसी ऑफिस में सस्पेंड चल रहे थे. अब उल्टा चलन चल रहा था. मामियों का रिक्शा मेरे घर की ओर दौड़ रहा था.

मैंने कभी अपने अवधारण की अवज्ञा नहीं की. प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन किया. मामियों के दरवाजे मैं फिर कभी नहीं गया.

सच्ची प्रतिज्ञा रंग लाती है. सेहरा में भी फूल खिलाती है. बाई के मुरलीवाले ने सचमुच ख़ूब मेरी लाज रखी थी.

मैंने बाई को शहर लाने की भरपूर कोशिश की. शायद वह पूर्वाग्रह से ग्रस्त थीं. अपना घर किसी भी क़ीमत पर छोड़ने को क़तई तैयार नहीं थीं. पिताजी के गुज़र जाने के बाद वह दृढ़ से दृढ़तर हुई जा रही थीं.

अपनी-अपनी जगह हम दोनों ही मां-बेटे मजबूर थे. नियति के हाथों थककर चूर थे. हम दोनों ही नदी के दो किनारे बनकर रह गये थे.

एकाएक बाई बीमार पड़ गयीं. बड़ी कशमकश में गांव पहुंचा. मलेरिया हो गया था उन्हें. घर अस्त-व्यस्त पड़ा था. बासी-उबासी ले रहा था. बाई मुझे ठीक से पहचान भी नहीं पा रही थीं.

मैंने तब अपने आप को गुनहगार ठहराने में ज्यादा देर नहीं लगायी. मैं भी शायद उन लोगों में शुमार हो गया था, जो अपने बीवी-बच्चों में इस कदर रम जाते हैं कि मां-बाप को भी भूल

जाते हैं.

मेरे मानसिक संघर्ष को बाई महसूस करती हैं. चेहरे पर वही मां वाली भोली सी मुस्कान लाकर कहती हैं - ''अवसाद मत कर बच्चा, नौकरी होती ही ऐसी है जो बच्चों से अपने मां-बाप छीन लेती है.''

''अब तू आ गया न, देखना अब बिना औषध के ही ठीक हो जाऊंगी.''

मैं रात भर सो नहीं सका था. शहर ले जाकर बाई के इलाज की सोचता रहा था. उनकी इस हालत के लिए मैं स्वयं को ज़िम्मेवार ठहरा रहा था.

सुबह उठा तो भौंचक्का था. श्रीकृष्ण जी की मढ़िया में बाई का कीर्तन चल रहा था. मुंह अंधियारे ही गाय के ताजे गोबर से घर लिप-पुत गया.

एक सप्ताह तक गांव में रहकर, मैं शहर को भूल गया था. ममता की गोद में, स्वयं बच्चा बन गया था. जितने दिन गांव में रहा, मां की ममता का अमृत चखता रहा.

शहर आने के बाद मैंने बाई को न जाने कितनी चिट्ठियां लिख भेजीं - ''बाई शहर के घर में आ जाओ, वरना मैं नौकरी छोड़कर गांव आ जाता हूं.''

शायद दूसरी चिट्ठी में मजमून था- ''शहर और गांव के बीच बुरी तरह बंट गया हूं. मैं रहता शहर में हूं, लेकिन सपने गांव के आते हैं. मुझे दुःस्वप्न बुरी तरह सताते हैं.''

तीसरी चिट्ठी थी - ''तुम फ़िकर कदापि न करना. मैं सोते-सोते चौंक जाता हूं...गांव की गलियों में पहुंच जाता हूं. तुम्हारी बतेशिया गाय की सेवा-संभाल में रात भर चौकीदारी किया करता हूं.''

चौथी चिट्ठी भी लिख भेजी- ''बिस्सो फफ्फा, खबासन मौसी, मुआबऊ सभी गांव वापिस बुलाते हैं. मेरे बिना उनका चौपड़ खेल अधूरा रह गया है.''

बाई मेरी चिट्ठियां, चिट्ठीरसा से पढ़वाती हैं, बदले में उसे पेट भर भोजन कराती हैं. देवी-देवताओं को याद करती हैं. उनसे मिन्नतें करती हैं. ''हे डुंगरेची माता, ग्वालदाऊ महाराज, चारों खूंटों के देवता, काली-कलकत्ते वाली, वैष्णव देवी, जय गंगा-जमुना, नरमदा मैया, सब की जय-जय.''

''भूत-परेत, अघोरी, अघोरिन की जय-जय. मेरे बचवा पर ज़रूर किसी बुरी आत्मा का साया है. सभी को पांच-पांच नारियल का झुमका चढ़ाऊंगी. मेरे बचवा की मदद करो-सहायता करो.''

''रात भर गांव की गलियों के चक्कर लगायेगा, तो सो कब पायेगा. हे हरदौल बाबा...बजरंग दादा...नीम वाले दद्दा..सभी मिलकर सहाय हो. बचवा की मुसीबतें हरो.''

एक दिन पटवारी दादा आये. कह रहे थे, बाई बुरी तरह

कुंवर बेचैन

३१ मार्च १९४७, दुइयापानी, जिला-नरसिंहपुर, (म. प्र.); इंटरमीडिएट, आयुर्वेदरत्न

लेखन : *प्रायः सभी विधाओं में. धर्मयुग/कादंबिनी में शिकार कथाएं, कहानीकार, कहानियां भोपाल, मुक्ता, सरस-सलिल, मधुप्रिया, अंकों/विशेषांकों में कहानियां प्रकाशित. आकाशवाणी जबलपुर से लगभग अब तक तीस कहानियां प्रसारित.*
'चिनम्मा' कहानी-संग्रह वर्ष २००३ में प्रकाशित.
'अनुवांशिकी' लघुकथा-संग्रह प्रकाशनाधीन.

विशेष : *'कहानी-मंच' की स्थापना एवं लगभग पांच वर्ष तक उसके अध्यक्ष तथा लघुकथाकार परिषद संस्था के सचिव.*

आत्मकथ्य : *गांव से चलकर शहर आया पर शहरी चकाचौंध में रहकर गांव को भूला नहीं. गांव मेरे जेहन में उग-उग आता है. मैं आज भी, गांव की कहानियां लिख रहा हूं. गांव की पृष्ठभूमि पर लिखा बाल उपन्यास प्रकाशन के लिए लगभग तैयार है.*

संप्रति : *भारतीय सर्वेक्षण विभाग में कार्यरत.*

चिंताग्रस्त हैं. घर बुरी तरह टूट रहा है. भूले से कोई चक्रवात आ गया तो घर, ऊपर ही ऊपर न जाने कहां उड़ जायेगा.

पटवारी दादा चिंताग्रस्त कर गांव चले गये. बस इसी ऊहापोह में पूरा साल गुज़र गया. घर गृहस्थी-ऑफ़िस के काम में ऐसा फंसा कि फंसा रह गया.

इसी दरम्यान बाई की चिट्ठी मिली. किसी से विनती चिरौरी कर लिखवायी होगी.

''मेरे बचवा. जुग-जुग जियो. खुश रहो. बाल-बच्चन की खैर मांगे चुन्नू-फकीर. सभी देवी-देवतन की तरफ़ से आशीर्वाद मिले.''

न जाने कितने दिनों से पतिया लिखकर भरमाते हो. खुद नहीं आते हो. माई ज़िंदा है या मरी, आज लौं सुध नहीं ली. बेटवा बूढ़ा झाड़ कब गिर जाये, कौन बताये, मेरी तरह घर भी बूढ़ा,

कहीं मरने से पहले घर गिरा तो मेरा क्या होगा. मेरे मुनौआ, बूढ़ा घर है, किसी दिन बैठ जायेगा, तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा. घर गिरना अशोभनीय होता है पुत्तर. घर अलालों और कपूतों के गिरते हैं. कुलदीपक के रहते मजाल है कि किसी का घर गिर जाये.

घर और बाप एक समान होते हैं बचवा. गिरते हुए घर की गूंज देश देशांतर में गूंजती है रे. गिरे हुए घरों में भूत, पिशाच, डायनों का डेरा हो जाता है नन्हें.

मैंने आज तक तुमसे कुछ नहीं मांगा...बस एक घर मांगती हूं. इस घर को बचाने के लिए तुझे आज फिर एक प्रतिज्ञा करनी होगी. ठीक वैसी, जैसी बचपने में मामाओं के घर न जाने की की थी. मेरी अर्थी के पहले घर की अर्थी उठे, यह देख नहीं पाऊंगी. देख, देरी मत करना पुत्तर, तू इस घर का वारिस है और इस घर को तेरी दरकार है.''

पत्र पढ़कर मेरे रोंगटे खड़े हो गये थे. आज एक मां ने आवाज दी थी. बेटे से कुछ मांगा था. मैं बाई को मायूस नहीं होने दूंगा. पुत्र पर तो मां-बाप का सोलहों आने अधिकार होता है. पत्नी से जल्दी आने की कहकर मैं ट्रेन पकड़ने घर से चल पड़ा था. मैं वहां से लौटने के बाद पत्नी और बच्चों को मां-बाप, घर के मायने समझाऊंगा. मैं तब उन्हें प्रतिज्ञा के मायने भी समझाऊंगा. प्रतिज्ञा करने पर निपट देहाती लड़का कैसे इंजीनियर बनता है - यह भी बख़ूबी समझाऊंगा.

एम. आई. जी-८, विजयनगर,
जबलपुर (म. प्र.) ४८२ ००२

लघुकथा

सुखी कर गये

रमेश मनोहर

मास्टर बिहारीलाल की शवयात्रा शमशान में पहुंच चुकी थी. नगर के काफ़ी लोग उनकी शवयात्रा में शामिल हुए थे. मास्टर बिहारीलाल काफी मिलनसार एवं सहृदय व्यक्ति थे. किसी को उन्होंने कभी ठेस नहीं पहुंचायी. जब क्लास में वे पढ़ाते थे तब उनका पूरा ध्यान पढ़ाने पर रहता था. पढ़ाने के अतिरिक्त उन्हें कार्यालयीन कार्य की जवाबदारी भी दे रखी थी. मजाल जो काम अपूर्ण रह जाता. पढ़ाने के अतिरिक्त एकॉउन्ट्स संबंधी सारा काम जानते थे. अतः अन्य मास्टर पेंशन से लेकर जी. पी. एफ. तक के सारे कार्य उनसे करवाते थे. मगर सभी का कार्य वे शालीनता से कर देते थे.

कल जब वे क्लास में पढ़ा रहे थे, अचानक दिल का दौरा पड़ा और उन्हें अस्पताल ले जाया जा सके उसके पहले ही उन्होंने आंखें मूद लीं. सबसे पहली खलबली तो विद्यालय में मची. फिर परिवार में लाश पहुंची. तब तक तो पूरे घर में कोहराम मच गया था. जब तक दोनों बेटियां अपने ससुराल से नहीं आ जातीं तब तक दाह संस्कार भी नहीं हो सकता था. मृत शरीर पूरी रात भर बर्फ़ की सिल्ली में ढका रहा. सुबह होते जब दोनों बेटियां आ गयीं तब दाह संस्कार का कार्य प्रारंभ हुआ.

चिता बनाई जा रही थी. जिसको जहां जगह मिल गयी वो अपने-अपने ग्रुप बनाकर बातों में मशगूल हो गये. मगर मास्टर बिहारीलाल के स्टाफ सदस्य मिश्रीलाल और सुरेश गुप्ता एक तरफ़ जाकर बातें करने लगे. मिश्रीलाल बोले -"बिहारीलाल के जाने से स्कूल का बहुत नुकसान हुआ. कुछ भी कहो पढ़ाता था ईमानदारी से."

"पढ़ाने के अतिरिक्त कार्यालय का कार्य भी करते थे." सुरेश गुप्ता हां में हां मिलाते हुए बोले - "उनके रहते हम लोग निश्चिंत रहा करते थे. मगर अब बिहारीलाल जी के पीरिएड भी तो मुझे ही लेने पड़ेंगे."

"तीन महीने बाद गुज़रते तो मेरा पेंशन केस सुधर जाता और जी.पी.एफ. का सही हिसाब भी भिजवा देते. अब कौन करेगा मेरा काम. रिटायरमेंट के बाद भी पेंशन खटाई में पड़ती दिखाई दे रही है."

"हां सो तो है. अब उनके जाने से कार्यालय का कार्य भी प्रभावित होगा. वास्तव में उनका चले जाना स्कूल के हित में ठीक नहीं है."

"स्कूल के हित में तो ठीक नहीं हुआ. मगर परिवार के हित में ठीक हुआ. सबसे अंतिम लड़का जो बेरोज़गार था उसे अनुकंपा नियुक्ति मिल जायेगी. वे परिवार को तो सुखी कर गये."

अंतिम कश फूंककर बीड़ी के टुकड़े को पांव से मसलकर बुझा दिया.

शीतला गली, जावरा (म. प्र.)

कहानी

संगदाह !

गंगा की झुग्गी ने वर्षों से वैधव्य की आग में जलती रहने के बाद पिछले कुछ समय से पुनः जोबन की ओढ़नी ओढ़ी थी. झोपड़ी में अभी तो दो जीव श्वास ले रहे थे. उन दो सांसों में एक थी पैंतीस वर्षीय बेवा गंगा की और दूसरी थी सोलह साल की, यौवन की दहलीज पर थनगनती उसकी इकलौती पुत्री जमना की, जो उसके सुखी दांपत्य की पहली और आख़िरी निशानी थी.

गंगा की चूड़ी-टिकुली भर जवानी में छिन गयी थी. शादी के अरमान पूरे हों उससे पहले ही उसका भरतार एक दुर्घटना में मारा गया था. जवानी की भर बसंत को काल कवल बना चुका था. यूं तो उसकी जाति में पति की राख़ ठंडी होते ही पुरानी चूड़ियां फोड़कर नयी पहन लेना आम बात थी पर पति की अंतिम निशानी स्वरूप बिटिया के सुख की ख़ातिर जवानी की आग को उसने बुझाकर बर्फ बना दिया. यह कहना कि संस्कार, किसी जाति या कुल की बपौती नहीं होते ग़लत न होगा.

गंगा शाक-भाजी बेचकर दो पेटों का गुज़ारा कर लेती. कितनी ही भूखी निगाहों से कुशलतापूर्वक बचकर जीवन की गाड़ी को वह चलाये जा रही थी. एक ही अरमान था - बेटी को किसी भले हाथों में कंकु कन्या करके सौंप देना. फिर अकेले जीवन की क्या चिंता-फिकर.

मुई जमनी भी भगवान के घर से ही जैसे रूप चुराकर ले आयी थी. कीचड़ में मानो कमल खिला ! काया भी ऐसी कंचनबरन कि अच्छे-अच्छों के मुंह से लार टपक जाये ! पर गंगा की धाक ने जमनी को भी बहकने नहीं दिया और आसपास के भूखे भेड़ियों को भी.

आज गंगा की सुगी बल्लियां उछल रही थीं. जीवन के कितने ही अरमान कितनी उमंगों को ऊंच-नीच, जाति-धर्म, अमीर-गरीब के भेद चिपकते नहीं. जीवन की कितनी ही रंगीन घड़ियों में प्रत्येक हृदय नाच उठता है, तो गमगीन पलों में हृदयविदारक रूदन भी करता रहता है.

गंगा की झोपड़ी ब्याह-बधाई के गीतों से छलक रही थी - "गुलाब बाड़ी सीवाने में रोपी रे, ऐसी ऐसी बगिया में जमनी बहन बनी बन्नी रे..." शादी जमनी की हो रही थी पर गंगा के हृदय ने मानो फिर से जवानी ओढ़ ली हो उतनी उमंग से वह भरी थी. आज उसका जीवन सार्थक हुआ हो, इतने उत्साह में वह नहा रही थी.

उसने जमनी के लिए उसके ही जैसा सम्मोहक, आकर्षक और पटाखे सा जवान खोज लिया था. गंगा ने हरख के साथ बारातियों का स्वागत किया था और शादी का मज़ा लूटनेवालों के गुलछर्रे थे. कितने ही मुछ्छड़ खुसफुस करते दिखाई दिये, 'पट्ठी विधवा औरत ने तो मर्दों को भी पीछे रख दे ऐसा अवसर दिया, मान गये.' तिरछी नज़रों से देखते लुका-छिपी भरा मज़ाक कर लेते. गंगा को उसका पता भी चलता पर आज के अवसर को वह किसी भी क़ीमत पर बिगाड़ना नहीं चाहती थी इसलिए या तो आंखों के आड़े कान कर देती या कहीं वह भी इसी तरह हल्का-फुल्का मज़ाक का जवाब मसख़री से दे देती. और...जमनी को बिदा करने का मुहूर्त आ पहुंचा...

कितने ही दिनों से हर्षपद्मा बनी गंगा ने कलेजा कठोर किया पर जमनी चौंधार आंसू बहाती मां के गले आ लगी फिर ममता कैसे क़ाबू में रहे ! गंगा के रोक रखे आंसुओं के प्रपात के दरवाज़े खुल गये. मां-बेटी सचमुच गंगा-जमुना बन गयीं. आसपास खड़ी-खड़ी भीड़ गदगद हो गयी. बा-मुश्किल औरतों ने मां-बेटी को अलग किया.

डॉ. नवनीत ठक्कर

जमना तो सागर में समा गयी पर गंगा तो बिल्कुल ख़ालीखम.

चार दिन तक गंगा की झुग्गी ज़रा भी न हिली-डुली. चूल्हे में तो मानो शीतलासातम ही पोढ़ रही हों. मानो कि गंगा ने बेटी के साथ भूख को भी ससुराल बिदा कर दिया हो. मनुष्य को हलन-चलन करने के लिए भी किसी कारण या आधार की आवश्यकता होती है. गंगा का तो मानो सर्वस्व ही लुट गया था.

समय ही ज़ख़्म पर मरहम का काम करता है.

गंगा के अचेत तन में धीरे-धीरे फिर से चेतना का संचार हुआ. पेट कहां तक विरह सहे ! गंगा ने काम में मन पिरोया.

जमनी का पति नाथिया भी संसार में एकल-अकेला था. जमनी की जवानी और रूप में तो वह पूरा का पूरा डूब गया. जमनी की ख्वाहिश भी पूरी हुई कारण कि उसके रूप को हिफ़ाजत और बदन को ठंडक मिले ऐसा पागल, पर सम्मोहक और कामधंधा करनेवाला कंथ उसे मिला था. जमनी तुरंत ही ममता की माया को भूलकर जवानी की मौजों में समा गयी.

एक दिन मां के संदेश ने जमनी के नशे को टटोला. मन के कोने में ढंक गयी ममता ने उसे चिकोटी ली, 'हट मुई अकेली मां को इतनी ही देर में भूल गयी....' विदाई की बेला में हर्षपद्मा

औरतों द्वारा गाये गीत की याद आयी....

"माई की गोद बहन ने बिसार दी...
सास की गोद प्रेमिल भा गयी जमनी बहन
दूर से देखे टिले तुम्हें प्यारे लगे !"

जमनी ने पूरी रात मां के घर जाने के लिए नाथिये से उधेड़-बुन की, पर नाथिये को जमनी की जवानी का ऐसा ज़ायका लगा था कि टस से मस न हो रहा था. जमनी ने एक रात में ही दस दिन बराबर चले उतना पाथेय भर दिया तब कहीं नाथालाल ने अलस सुबह बामुश्किल हकार में सिर हिलाया और वह भी केवल चार ही दिनों के लिए !

नाथिया जमनी को छोड़ने ठेठ उसके गांव तक लपका. सासु मां ने जमाईराजा का बराबर आगत-स्वागत किया. क्योंकि घर में सास गिनो या ससुर, साली मानो या साला, अकेली गंगा ही थी ! इसलिए सासु-जमाई का भी प्यार चला. नत्थूलाल तो सासु जी के स्वागत में झूल पड़े और चार दिनों की जगह चौदह दिनों का चेक जमना को फाड़ देना पड़ा.

इसी तरह जमनी के सुखी-संसार के दो साल बीत गये. गंगा को अब नानी मां बनने के अरमान जागने लगे. कितने ही वर्षों से गंगा ने घर में बच्चे का मुंह नहीं देखा था. मन ही मन ख्याली पुलाव पकाती कि, 'जमनी तो अभी नादान है और छोटा बच्चा पालना उसे नहीं आयेगा इसलिए उसकी इस पहली संतान को तो मैं अपने पास ही रखूंगी.'

आदमी इच्छाओं के जाल-झंझाल में उलझता रहता है. इच्छाओं की पकड़ आदमी को चैन से बैठने भी नहीं देती. फिर भी आदमी को उसके बिना संतोष नहीं मिलता. एक इच्छा तृप्त होते ही दूसरी चार खड़ी हो जाती हैं. यूं ही चक्र चला करता है. यह लगाव और लालच छूट जाये तो आदमी महात्मा बन जाये.

गंगा को संकेत मिला कि जमनी को दाल देखते ही उबकाई आती है, तो गंगा पागल हो गयी. तुरंत समाचार भेजा और जमनी को बुलवा लिया. उधर नाथालाल के बुरे हाल ! दो दिन घर तो तीन दिन ससुराल में. अभी तो पूरे चार महीनों की देर थी.

सुख बड़ा चंचल है. उसे एक ही जगह लंबे समय तक टिके रहना अच्छा नहीं लगता. जमनी को छठे महीने कुछ विचित्र-सा दर्द शुरू हुआ. आरंभ में तो गंगा को भी कुछ पता न चला. फिर भी जमनी को छटपटाती देखकर उससे रहा न गया. उसे सरकारी अस्पताल में दिखाने ले गयी. दो-तीन दिन की तफ़तीश के बाद डॉक्टर की बात सुनकर गंगा के माथे गाज गिर पड़ी. जमनी के पेट में हमल सूख गया था. इसलिए तात्कालिक ऑपरेशन करवाकर गर्भ निकाल देना पड़ेगा नहीं तो शिशु के साथ मां की जान पर भी ख़तरा पैदा हो जायेगा.

गंगा को बोझिल मन से डॉक्टर की सलाह माननी पड़ी. गंगा-जमुना दोनों के दिलों में मानो भीषण अकाल पड़ा. ऊपर वाले

२९ फरवरी १९४०; देथली, जि. खेड़ा (गुजरात)
एम. ए., एम.एड., पी-एच. डी.

लेखन : मातृभाषा गुजराती और हिंदी में १९८५ के आस-पास लेखन की शुरुआत. हिंदी में चार काव्य-संग्रह प्रकाशित. रांगेय राघव, अमृतलाल व वृंदावनलाल वर्मा के जीवनीपरक उपन्यासों पर शोध-समीक्षा पुस्तकें प्रकाशित. गुजराती में भी पांच काव्य-संग्रह प्रकाशित.

अनुवाद : कुछ उपन्यास व कुछ आत्मकथाओं की आठ पुस्तकों का गुजराती से हिंदी अनुवाद. एक उपन्यास गुलारा बेगम (डॉ. शरद पगारे) का हिंदी से गुजराती अनुवाद व एक अंग्रेजी पुस्तक (बैजन दारुवाला) की अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद (उड़ान की बांहों में आसमां).

पुरस्कार : गुजरात हिंदी विद्यापीठ के हिंदी गरिमा (१९९४), शांति साधना पुरस्कार (२०००); गुजरात हिंदी साहित्य अकादमी पुरस्कार (१९९७); केंद्रीय हिंदी निदेशालय का हिंदीतर लेखक पुरस्कार (१९९९) व कुछ अन्य पुरस्कार.

संप्रति : निदेशक, न्यू उपासना विनय मंदिर, अहमदाबाद ३८० ०२२.

की करतूत-क्रीड़ा भी निराली है.

महीने-भर हॉस्पिटल में रहने के बाद जमनी को छुट्टी देते समय डॉक्टर ने गंगा को अकेले में बुलाकर धीमे से सलाह दी, 'देखो बहन अपनी बिटिया को अभी अपने पास ही रखना, ससुराल मत भेजना. भूलकर भी पति-पत्नी को एक न होने देना नहीं तो...आफत होगी, मुसीबत होगी.'

"डॉ. साहब, मेरी बिटिया को ऐसा तो क्या हो गया है? मुझे तो ऐसा लगता है कि इसे कोई न कोई हवा-फेंटा लग गया है. मेरी छोकरी रूप का अंबार थी, ख़जाना थी. किसी नीच अभागिन मुई बांझ रांड ने टोटका-वोटका करके पिंड की कोख भरने के अरमान पूरे करने मेरी छोरी के जीव में पलीता लगाया

है. पर मैं उसे नहीं छोड़ूंगी. मेरे पास भी वह पूरी की पूरी सुलग जाये ऐसे टोटके हैं... मैं उसे नहीं छोड़ूंगी...हां...डॉक्टर साब मैं उसे नहीं छोड़ूंगी...." और गंगा टूट-बिखर गयी. इतना दुःख तो उसे चूड़ियां टूटीं तब भी नहीं हुआ था.

डॉक्टर ने गंगा को तसल्ली दी और इस प्रकार के क़दम से दूर रहने के लिए तथा भलीभांति दवा करने की सीख देकर मां-बेटी को बिदा किया.

नत्थू भी इस समाचार से टूट गया. क़ुदरत के खेल के आगे सभी लाचार थे. फिर से गंगा के दुःख के दिन शुरू हुए. जमाई झुरझुरायेगा ऐसा सोच गंगा ने उसे ख़ुद के घर ही रखा.

धीरे-धीरे बेटी के संतान का दुःख गंगा के मन से दूर हुआ पर जमनी धीरे-धीरे, दिन-दिन दुबलाने लगी. उसका नूर लुट गया. नत्थू गुमसुम बैठे-बैठे अपने अरमानों को पांव सिकुड़े-समिटे पड़े देखता और झुरझुराता.

गरीबों के घर में दुःख एक बार अड्डा जमा दे फिर बिदा होने का नाम नहीं लेता. ऐसा लगता है कि गरीबी और दुःख के बीच मानो सात जनम का लेन-देन हो. पर दुःख जब अपना साया लंबा ही लंबा करता रहता है तब आदमी उसका अभ्यस्त हो जाता है, दुःख झेलना उसका स्वभाव बन जाता है. अपनी बेटी की चिंता में गंगा कुछ दिन तो घर में बैठी रही पर अब तो एक ही जगह तीन जीवों के पेट का सवाल. उसमें भी छोरी की बीमारी. जमाई को तो कुछ काम भी नहीं बताया जा सके...इसलिए ख़ुद ही ज्यादा मजदूरी करने लगी.

नाथिया भी थोड़े दिन कोना पकड़े-झकड़ें ऊब गया. थोड़ा-थोड़ा बाहर आने लगा. फिर तो सासू मां के साथ उसने भी थोड़ा काम शुरू किया. जमनी के दर्द में कुछ ज्यादा फ़र्क नहीं महसूस हो रहा था. गंगा ने दवाई के साथ-साथ डोरा-धागा-ताबीज, भूत-ओझा, मनौती-नियाज़ सब कुछ, कर देखा पर दर्द जमनी की काया में कुंडली मारकर बैठा था - इत्मिनान से.

नाथिया भर जवानी के ज्वार से गुज़र रहा था. उस प्रवाह में मन भरकर नहाया भी था. अतः वह कहां तक कोरा-मोरा रह सकता ? उसे तो किसी दर्द ने झकड़ा-पकड़ा नहीं था.

गंगा की झुग्गी के इर्द-गिर्द दूसरी आठ-दस जमनियां जैसी रहती थीं. नाथिया निकलता तो सभी की नज़रें चार होतीं. शुरू-शुरू में तो नाथिया आंखें आड़े कान करके निकल जाता पर जवानी कब तक क़ाबू पाये ! उसने भी अब लुके छिपे देख लेना और कभी आंखों में आंखें पिरोने की मस्ती लूटना शुरू किया. धीरे-धीरे आंखों के फ़ासले घटने लगे.

गंगा ज़माने को खाये-पकाये थी. उसकी पैनी और अनुभवी आंखों ने नत्थू की नज़र को परख लिया. दिल पर छुरियां चल गयीं और पेट तक सांप सूंघ गया. मर्द जात का क्या भरोसा ! और वैसे भी देखा जाये तो नत्थू का क्या कसूर !

इतने पर भी एक दिन नाथिये को कुछ दूर से एक झुग्गी में घुसते देख लिया तो गंगा का दिल चिर गया. सारे काम छोड़कर गंगा झुग्गी के पीछे जा छिप गयी.

रेवा की मां नत्थू को समझा रही थी, "तुम तो तुरंत दे दो फारगती. कहां तक तुम बाबाजी बनकर बैठे रहोगे ? दिन की थकान रात को न उतरे तो मर्द पागल हो जाये, बावरा हो जाये. मुई गंगाड़ी इतना भी नहीं समझती ? तुम कल ही तलाक दे दो तो मैं परसों तुम्हारे सिर पर सेहरा बंधवा दूंगी. चिंता मत करना."

गंगा के हिये में आग भभक उठी. एक क्षण के लिए मन में सोचा कि, "रांड की चुटिया पकड़कर पछाड़े. मेरी छोरी का घर उजाड़ने बैठी है ?" पर ऐसा करने से बात का बतंगड़ हो जायेगा ऐसा सोचकर जैसी आयी थी वैसी ही वापस लौट गयी.

पूरी रात गंगा की आंखों में ताले खुले के खुले रहे. दांये बायें करवट बदलती रही. 'क्या करूं कि बिटिया की चूड़ी-टिकुली टिकी रहे ?' पूरी रात उसके विचारों ने उसे सोने नहीं दिया. आख़िरकार सुबह होते-होते मन में गांठ लगाकर ही बिस्तर छोड़ खड़ी हो गयी.

गंगा चालीसी के पास पहुंची थी. पर काया पर कहीं भी झुर्री नहीं दिखती थी. जवानी का रिश्ता जितना मन के साथ होता है उतना तन के साथ कहां ?

गंगा अब नाथूलाल को हथेली पर लेने लगी. अपने साथ-साथ ही रखती. पल भर को भी उसे स्वतंत्र नहीं रखती थी. कभी तो मधुर छेड़ख़ानी करके नत्थू को नचाने का प्रयत्न करने लगी. नाथिये को सासु मां की चपल चेष्टाएं मीठ गट्ट लगने लगीं तो बाहर आवारा भटकती आंखों को लगाम मिल गयी. गंगा ने महसूस किया कि तीर निशाने पर ही लगा है. गंगा को अपने बर्ताव के लिए पीड़ा भी होती कि भरपूर जवानी में तो देह को ज़रा भी अपवित्र न होने दिया और इस दहलीज़ पर ऐसा ? पर फिर छोरी का चेहरा आंखों के सामने आता और रेवा के शब्द कान के पर्दों से टकराते. विचारती, "मैं कहां अपनी भूख तोड़ने के लिए कुछ भी कर रही हूं ? मुई जमनी का पूरा औतार मेरी तरह सुलगती आग में सिकता न रहे इसलिए मुझे ऐसा क़दम उठाना पड़ता है इस उम्र में ? हे प्रभु ! मुझे माफ़ करना."

जमनी कोने में पड़ी-पड़ी यह सब देखने लगी. बदले-बदले हवा के झोंकों की जानकारी थोड़े दिन तो उसे न हुई पर आंखों के अदले-बदले रंग कितने दिन छिपे रहते ? दिन बीतने के साथ-साथ नत्थू और गंगा के नाज़-नख़रे परवान चढ़ने लगे. जमनी बिस्तर में लेटी-सोती सुलगने लगी पर जीभ नहीं खुल पा रही थी. मां पर वहम करने के लिए अभी उसका मन तैयार नहीं हो रहा था. उसकी रातों की नींद हराम हो गयी थी

नन्हीं-सी झुग्गी में तीन बिस्तरों के बीच फासला रहना

मुश्किल था. यूं तो तीरगी में क्या चलता है इसका जरा भी अनुमान नहीं लगता या जरा भी आभास नहीं आता.

पर...

जमनी के मन में संदेह का कीड़ा पलता जा रहा था. उसमें भी एक दिन तो...

पूनम का चांद अपने मध्यान्हकाल में नभ से शीतल चांदनी उंडेल-रेल रहा था. शीतकालीन कड़ाके की ठंड में समस्त लोक ठिठुरता सो गया था. पर गंगा की झुग्गी में नत्थू की जवानी किनारे तोड़ रही थी. आंखों की उछल-कूद और कोरे-मोरे क्रीड़ा-संकेतों से उसकी आग कैसे बुझ पाती ! संन्यासी बन बैठे लोग भी उपवास के दिन दूध-फलाहार का आसरा लेते हैं. फिर देह की भूख किसे छोड़ती है ! नत्थूराम ने तो संन्यासी का मुखौटा ओढ़ा नहीं था! उसकी आग तो ज्यादा से ज्यादा भभकी-भड़की और अंततः गंगा के बदन में उंडेलने के लिए उतावली बन गयी. गंगा ने बहुत कुछ संभाल रखा पर आज नाथिया काबू में रह सके ऐसा नहीं था. यूं तो गंगा ने ऐसा मान लिया था कि जमनी सो गयी होगी पर अधिक खींचतान में उसके जग जाने के डर से आख़िरकार उसे झुकता पल्ला ही तोलना पड़ा.

झुग्गी की छत ने चुगली खाने के लिए अपने में बनाये गड्ढों-छिद्रों में से चंद्रकिरणों को ठेठ झुग्गी के भूतल तक चांदनी को आने का निमंत्रण दिया था. जमनी ऊंघने का बहाना भर कर रही थी. इस तरफ़ नाथालाल अपने शरीर की आग गंगा के बदन में भरपूर मन से उंडेल रहा था तो दूसरी ओर जमनी के शरीर में उस दृश्य ने भड़का कर रख दिया. कानों से सुनी बात पर भरोसा नहीं किया जा सकता पर आंखों से देखा अनदेखा कैसे करे ! जमनी के हलक़ में चीख़ अंदर ही अंदर सूख गयी.

जमनी की देह को जलाता दिन उगा. नाथिये की उपस्थिति में मां को कुछ कहने के लिए जीभ तैयार न थी.

रोज के क्रम के अनुसार घर का कामकाज निपटाकर नाथिया और गंगा काम करने जाने को तैयार हुए तो जमनी हौले से बोली, "मां आज इनको अकेले ही जाने दे. तू मेरे पास बैठ. जी घुट रहा है और बिगुचन लगती है."

गंगा जो कुछ किये जा रही थी और बीती रात को उसने जो कुछ किया उसमें उसे नत्थू का तो जरा भी लगाव या पागलपन न लगा. वह तो पतन के पथ पर भी मानो साधना कर रही हो उसी भाव से सब कलेजे पर पत्थर रखकर किये जा रही थी. इसीलिए जमनी ने जैसे ही कहा कि तुरंत ही नत्थू को अकेला ही बिदा किया. हां, नाथालाल को अकेले जाना अच्छा नहीं लगा.

बस...

अभी तो नाथिया बस्ती को लांघ बाहर ही निकला होगा कि तुरंत ही जमनी ने चंडी का रूप धारण किया. रांड-रंडी ! तू मेरी मां है या दुश्मन ? सगी बेटी दरद में तड़फड़ा रही है और तू उसके खसम के साथ जन्मों की भूख मिटाने बैठी है ? तूने लाज छप्पर पर रख दी है ? सगी पेटजाई की सौतन बनने बैठी है ? मां तूने यह क्या किया ?

गंगा ऐसे आकस्मिक हमले के लिए तैयार न थी और चाहे जो हो वह गुनहगार तो थी ही. पर उसके पाप के पीछे भी तो पुण्य उसकी बेटी का ही निहित था. उसे जन्मों की भूख ही मिटानी होती तो जमनी जन्मी को तुरंत ही उसे दूध पीती करके किसी का घर बसाकर बैठ गयी होती. कौन उसे रोकनेवाला था ? पर इस वक़्त मां होकर बेटी को अधिक क्या कह सकती थी ? फिर भी यथासंभव उसे समझाने का प्रयास किया. इस पर जमनी अधिकाधिक चीख़ने-चिल्लाने लगी. आज उस पर डाकिनी सवार हो गयी थी. अच्छे-बुरे का होश भूलकर झुग्गी के बाहर आकर मां का नाम लेकर मर्सिया गाने लगी और छाती पीटने लगी.

तमाशे को न्योते से क्या मतलब ! आसपास के लोग जमा हो गये और गंगा की सगी छोकरी के मुंह से निकलती बातें सुनकर सबकी आंखें फटी-फटी रह गयीं. साक्षात् पापिनिया भी गंगा पर

कविता

ओस बिंदु

✍ डॉ. देवेंद्र नाथ श्रीवास्तव

नन्हे पौधे की टहनी पर,
कोमल पत्ती की गोद में,
जल कण का इक लघु समूह हूं.
ओस बिंदु हूं, ओस बिंदु हूं.

शीतल निशि के प्रांगण में, चांदनी जब भी मुस्काती है,
आर्द्रता सिमट आधार लिये, अति घनीभूत हो जाती है.
तब अदृष्य वाष्प से जन्म मेरा, फिर अदृष्य में खो जाना है,
पल दो पल का यह दृष्य रूप, फिर कौन मुझे पहचाना है.
इस पल में जीवन तत्व संजोये,
सीमित असीम संबंध लिये
इक भाव छंद हूं, ओस बिंदु हूं,
ओस बिंदु हूं, ओस बिंदु हूं.

इक पल को है मुझमें इंद्रधनुष, इक पल को है मुझ में विश्व झलक,
मेरी ओर भी अपनी दृष्टि करे,
क्या ऐसी है कोई प्रेम पलक.
जल के सारे अवयव लेकर, है पारदर्श निर्मलता की,
पल-पल में शाश्वत जीवन है, है परम बोध साधना की.
विस्मृति में भी जागरण लिये,
इक गोली सा आकार लिये
बृहद सिंधु हूं, ओस बिंदु हूं,
ओस बिंदु हूं, ओस बिंदु हूं.

२०३, स्पेस एज सोसायटी, देवनार, मुंबई - ८८

मुंह फट फटकारें बरसाने लगीं. झुग्गी में पड़ी गंगा यदि धरती रास्ता दे तो समा जाने को तैयार हो गयी. समग्र जीवन में वह सिर ऊंचा रखकर जीती रही थी और अब नज़रें ज़मीन में गड़ाकर किस तरह जियेगी ?

इस तरफ़ जमनी बाहर बैठी-बैठी मां को गालियां बक रही थी और दूसरी तरफ़ झोपड़ी के पिछले दरवाजे से गंगा कब निकल चुकी थी उसका किसी को पता न चला. जमनी सारा दिन बाहर बैठी रही. वह तो यही समझ रही थी कि 'रांड अपना काला मुंह कैसे किसी को दिखायेगी, इसलिए अंदर ही डटी-गड़ी है.'

चार बजे नत्थू आया. जमना को नाथिये पर भी उतना ही गुस्सा था. पर मांदे-बीमार बदन से पूरे दिनभर मां पर फटकार-तिरस्कार बरसाकर वह थक चुकी थी. नाथिये ने जमनी को बाहर बैठा देख और उसके चेहरे के हाव-भाव देखकर समझ लिया कि मानो या न मानो पर कुछ न कुछ गड़बड़ हुई है. फिर भी बोला- 'क्यों बाहर बैठी है, चल अंदर.'

'मुझे अंदर ले जाकर दफ़न करना है. तू ही जा, तेरी सगी सग्गी तो अंदर सिंगार सजाये तुझे बदन-सीने से लगाने के लिए बैठी है. जा, जा और दोनों जन करो अपना मुंह काला. जी भर मुंह काला कर लो फिर बुलाना भीतर. तुम दोनों जनों की आरती उतारने आऊंगी.'

तुरंत नाथिया समझकर झुग्गी में चला गया पर पलभर में वापस आकर बोला, अंदर तो कोई नहीं है.

अब जमनी के पेट में दरार पड़ी. 'कहां गयी होगी ? कब की गयी होगी ?' इतने में सामने से पुकार सुनाई दी कि तालाब में कोई औरत जात की लाश तैर रही है.

लोग दौड़े उसी दिशा में. नाथिया भी भागा. लाश के बाहर निकलते ही पहचान लिया गया. लाश को झुग्गी के आगे लाया गया तब जमनी लाश के गले लगकर, दिल फट जाये ऐसे चीख़ी, 'मां तूने यह क्या किया ?'

गंगा के निश्चेतन तन के गले से चिपटी जमनी को धड़कन सुनाई दी. 'बेटी जमनी ! मैंने अपने जिस्म की आग को उस दिन ही बुझा दिया था जिस दिन तेरा बाप मर गया था. जो कुछ भी हुआ वह तो गंगा की देह द्वारा जमनी ने ही किया था. फिर भी तुझे दुःख लगा इसलिए जीने से उचित मरना सिर-माथे लिया. तेरी अभागिन मां को माफ़ करना.

जमनी खुद को माफ़ न कर पायी. उसके प्राण-पखेरू भी तुरंत उड़ गये. गंगा-जमना की देह को चिता निगल गयी और उस पर आंसू ढुलकाता नत्थू अकेला-एकल खड़ा था, उसके आंसू भी लुप्त-गुप्त सरस्वती की तरह गंगा-जमना की राख़ के संगम में मिले कौन देख पाता ! राख़ की दाह उसे पी गयी.

९, मंगलवीला एपार्टमेन्ट, वडनगरा पाटीदार सोसायटी, रामबाग, मणिनगर, अहमदाबाद-३८० ००८.

ग़ज़लें

✍ चांद शेरी

(१)

वहां पर अम्न क्या होगा सुकूं की बात क्या होगी,
'जहां बारिश लहू की हो वहां बरसात क्या होगी.

कभी मेरठ कभी दिल्ली कभी पंजाब में कर्फ्यू,
भला इससे भी बिगड़ी सूरते-हालात क्या होगी.

जहां इंसाफ बिकता हो जहां दौलत की पूजा हो,
वहां ज़िक्रे वफ़ा इंसानियत की बात क्या होगी.

ग़रीबों को मयस्सर अब न रोटी है न कपड़ा है,
ऐ आज़ादी तेरी इससे बड़ी सौगात क्या होगी.

तुझे 'शेरी' लहू देकर भी इसकी लाज रखनी है,
वतन की आबरू पर जान की औकात क्या होगी.

(२)

आतंक देश से जो मिटाया न जायेगा,
बरबादियों से इसको बचाया न जायेगा.

जज़्बात अहले मुल्क के भड़के हुए हैं आज,
बातों से सिर्फ़ इनको दबाया न जायेगा.

बिगड़े हों चाहे कितने ही हालात दोस्तों,
उम्मीद का चिराग़ बुझाया न जायेगा.

खुदगर्ज़ रहबरों से कभी अपने देश में,
महंगाई का ये दौर हटाया न जायेगा.

जब तक वतन में फिरक़ापरस्ती का दौर है,
'शेरी' सुकूं से वक़्त बिताया न जायेगा.

के-३० आई.पी.आई.ए., रोड नं. १, कोटा (राज.) ३२४ ००५

कहानी

उसे हवा भी नहीं छू सकती

आज मेरी अड़तीसवीं सालगिरह है, याने आम भारतीय की कुल आयु का आधा हिस्सा या आधे वर्ष याने आधा जीवन बिता चुकी हूं मैं. सभी कभी न कभी उम्र के इस दौर में आते हैं. एक आम भारतीय पैदा होता है, बालपन से किशोरवय फिर जवानी में कदमताल करता है, रहना वहीं चाहता है. पर उसी समय विवाह और पत्नी/पति के साथ परिवार की स्थापना, वंश की बढ़ोतरी फिर वृद्धावस्था और इसी अवस्था में वर्तमान के युवाओं को कोसते हुए दिवंगत हो जाना.

मैं आम भारतीय लड़की तो हूं, पर मेरी कहानी एक आम भारतीय लड़की की कहानी नहीं है, हंसिए मत, अड़तीस की हो गयी तो क्या हुआ, अविवाहित और 'वर्जिन' हूं तो क्या लड़की नहीं कहला सकती ? आज के इन छोकरे-छोकरियों की तरह नहीं कि सोलहवां साल लगते ही सेक्स की बातें यू करते मानों आलू-मटर या धनिया मिर्च के भाव जान रहे हों. फ्री सेक्स और विवाह के पूर्व यौन सुख के अनुभव की पैरवी, पेट की भूख की तरह इसे भी प्राकृतिक भूख मानने की अवधारणा को पुख़्ता करता हुआ. मैं यह भी नहीं कह सकती कि कभी एक अनिवर्चनीय सुख को पाने की, एक एहसास को जीने की चाह कभी नहीं हुई. ठीक से कुछ न जानते हुए भी, सहेलियों, बहनों-भाभियों की अनुभवजन्य बातों से यह तो समझ आ गया कि है कोई ऐसी बात, ऐसा एहसास जो स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी के बीच एक दूसरे के पूरक के अर्थ को नाजुकता से रेखांकित करता है.

मम्मी-पापा की पहली संतान थी सो बच्चों में सबसे बड़ी होना ही था. सबसे बड़े होने का अर्थ अतिरिक्त ज़िम्मेदारी का वहन करना, चाहे-अनचाहे, बोलकर-बिन बोले.

'तू सबसे बड़ी है न, भाई बहनों को सही राह तुझे ही दिखाना है. तू उनका आदर्श बनी रहेगी तभी तो वे लोग ग़लत राह पर नहीं जायेंगे.' - यह मेरे लिए मां का सिद्ध मंत्र होता. भाई-बहन जो कुछ भी करते हों उसकी ज़िम्मेवारी मेरी. वो लोग मां के मन मुताबिक काम कर रहे हों तो सही राह पर हैं वरना कुछ ग़लत कर रहे हैं. और अगर ग़लत कर रहे हों तो मेरे व्यवहार में ही कुछ कमी, ख़ामी है, आदर्शानुरूप नहीं है.

जब छः वर्ष की हुई तो मम्मी की तीसरी संतान का जन्म हुआ. मेरी और छोटी बहन मीनू का एक नन्हा सा भाई. दो पुत्रियों की पीठ पर वंश बेल को सुरक्षित रखने वाला, वंश को चलाने वाले का आगमन हो गया था. मम्मी-पापा के मन की मुराद पूरी हो गयी थी, उनके सपनों का वितान अपने बेटे के लिए इतना फैला, इतना विस्तृत हुआ कि बेटियों के लिए सपने देखने की गुंजाइश ही नहीं रही. दो वर्ष के पश्चात एक और भाई का जन्म, इसके पश्चात तो बेटियों को देने के लिए उनके पास क्या शेष रह जाता ? शायद देने को आशीष भी न बचा था. मीनू तो फिर भी छोटी होने के कारण और पीठ पर दो-दो भाइयों के जन्म का शुभ ठोकरा उठाये उनका स्नेह पा जाती. पर मैं ? आठ-नौ की उम्र से ही पुरखिन की तरह मम्मी का काढ़ा और पथ्य उनके निर्देश पर बनाती. पापा जिस तरह मदद करते थे उससे लगता कि ना ही करें तो ठीक हो. स्टोव पर कुछ रख कर अपने नन्हें बेटे की झलक पाने, उसकी बाल चेष्टाओं के देखने बार-बार जाते. इस बीच स्टोव पर रखी चीज़ या तो उफन कर बह जाती या जल जाती. डांट मुझे ही पड़ती, 'तू जब यहीं थी तो ध्यान क्यों नहीं रखा ?'

मंगला रामचंद्रन

मुझे तो वहीं होना था, और कहीं ज़गह कहां थी मेरे लिए ! पर काम के अलावा स्कूल जाने की तैयारी, होमवर्क, पाठ याद करना कितने तरह के दबाव हुआ करते थे. उस समय से अधिक, अब इस उम्र में आकर जब पीछे मुड़ कर अतीत को देखती हूं तो अपनी छोटी सी उम्र की लघु काया और उस पर लादा भार साफ नज़र आता है. ख़ास कर तब, जब मीनू की बारह वर्षीय पुत्री को तितली की तरह उड़ते, चिड़ियों की तरह फुदकते और चहकते देखती हूं. मुझसे मात्र दो वर्ष छोटी मीनू भी तो उन दिनों अपने हठ और लाड़ से पापा-मम्मी को अपनी कितनी ही इच्छाओं के लिए राजी कर लिया करती थी. जब वो चार वर्ष की थी तो छोटी और छः वर्ष की मैं बड़ी. जब वो छः वर्ष की हुई तब मैं और बड़ी हो गयी, 'आठ साल की हो गयी और इतना सा काम नहीं संभाल सकती.' या 'तू बड़ी है ना, छोटों के साथ बराबरी मत कर, पहले उनको दे फिर ले, या बाद में खा.' उसके बाद खाने की इच्छा रह कहां जाती ! वैसे भी खाऊं या भूखी रहूं कौन ध्यान देने वाला है !

छोटी उम्र में मुझे बहुत लाड़-प्यार मिला है, ऐसा मम्मी-पापा कहते हैं. मुझे तो याद आ ही नहीं सकता. जब मैं दो साल की पूरी भी न हुई थी तो मीनू का जन्म हो गया था. मां उसको संभालती या मुझे लाड़ करती. पापा ने उस समय मुझे संभाला ही होगा वरना पलती कैसे, बड़ी कैसे होती ! फिर पहली संतान

पर तो कोई भी माता-पिता जान छिड़कते हैं. पापा ने कई बार यह जतलाया भी कि 'मानसी हमारे स्नेह, मन और सोच की संतान है. मानसी तुमने इस बात को अपने आदर्श व्यवहार से सिद्ध भी कर दिया.'

पर क्या किया जा सकता था, जब मां गर्भवती हो जाये. उबकाइयों और पेट में अन्न न ठहरने से शिथिल हो जाये, किसी न किसी को जिम्मेदारी लेना ही थी. वैसे मैंने समझ कर कोई जिम्मेदारी नहीं ली. वरन् एक स्वाभाविक क्रिया के रूप में जिम्मेदारियां अपने आप मुझ पर लदती चली गयीं.

मम्मी-पापा के आशानुरूप बनने या रहने के लिए जो प्रयत्न करती वे मेरी स्वाभाविक चेष्टाओं और सोच को बाधित करते रहे और मैं समझ नहीं पायी. तब स्कूल में आठवीं कक्षा में थी. कक्षावार पिकनिक का सिलसिला चल रहा था. मेरी कक्षा के लड़के-लड़कियां पूरे जोश में प्लानिंग कर रहे थे. कौन गेम्स लायेगा, कौन-कौन टाइटिल बनायेंगे, कौन क्या पहनेगा कितनी ही तरह की बातें तय हो रही थी. मैंने तय कर लिया था कि नहीं जाऊंगी क्योंकि मम्मी-पापा से अनुमति मांगने का साहस नहीं था. पिकनिक और मौज मजा तो खुलकर बातें करने वालों, हंसने वालों के लिए होता है. मैं तो थी दब्बू, 'प्लेन जेन' जिसे न सजना संवरना आता न आंखे उठा कर ढंग से बातें कर सामने वाले पर प्रभाव जमाना आता था. फिर घर का काम छोड़ कर जाना भी संभव नहीं था.

घोष टीचर को ज्यों ही पता चला कि मैं पिकनिक पर नहीं जाऊंगी उन्होंने मुझे पकड़ लिया.

'क्यों नहीं चलोगी ? पूरी क्लास जायेगी और सभी को जाना है', - मेरे गाल पर हल्की चपत लगाकर जिस तरह अधिकार से कहा, मुझे बहुत अच्छा लगा. पहली बार किसी की आंखों में झांकने की कोशिश की और स्नेह ऽ ऽ नहीं-नहीं दया, नहीं वो भी नहीं शायद सहानुभूति पायी.

घर आकर पापा से कहा तो वो भी बोले - मानसी, जब सारे बच्चे जा रहे हैं तो तुम्हें भी जाना चाहिए. अब तो ये बाल-गोपाल भी बड़े हो गये हैं, और एक दिन मम्मी तुम्हारा काम संभाल लेगी. वैसे भी कल रविवार है मैं भी घर पर रहूंगा. मानसी का मन हुआ खुशी से गा ले, नाच ले. तभी पापा का गंभीर, चेतावनी भरा नाद गूंज उठा- 'एक बात का ख़्याल रखना, अपनी मर्यादा में रहना. लड़के भी साथ रहेंगे और कुछ लड़कियां ऐसी ज़रूर होती हैं जो उन्मुक्त वातावरण की ही तलाश में रहती हैं. तुम तो बहुत समझदार हो अलग से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है.'

मेरा जाना मम्मी को अखर रहा था क्योंकि मेरी मदद और हाथ बंटाने की उन्हें आदत पड़ चुकी थी. पापा मजाक में कहते - 'मानसी विवाह के बाद ससुराल चली जायेगी फिर क्या करोगी?'

तभी मीनू कहीं से आ जाती और शान से घोषणा करती, 'मैं भी तो हूं, मैं मदद कर दूंगी.'

मंगला रामचंदन

३ जून १९४४, अहमदाबाद;
स्नातक (गणित)

लेखन : *पढ़ने के अत्यधिक शौक और आसपास के वातावरण ने धीरे-धीरे लेखन की ओर प्रवृत्त किया. लगभग तीस वर्षों से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानी, सामाजिक व हास्य व्यंग्य की रचनाएं प्रकाशित. भोपाल व इंदौर आकाशवाणी से वार्ताओं व कहानियों का प्रसारण. भोपाल दूरदर्शन के कुछ कार्यक्रमों में सहभाग.*

प्रकाशन : *'आधुनिक अहिल्या', 'प्रश्नों का बरगद', 'तीसरा पड़ाव', 'काउंट डाउन', 'तुमको कुछ नहीं आता' कहानी संग्रह प्रकाशित. कहानी संग्रह 'जमीन अपनी अपनी' का संयुक्त रूप से संपादन.*

विशेष : *कहानी 'यही सच है' का अनुवाद महाराष्ट्र राज्य पाठ्य पुस्तक निर्मिति द्वारा उर्दू की पुस्तक 'धनक' में सम्मिलित.*
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय की हिंदी साहित्य की छात्रा द्वारा लघु शोध प्रबंध.
जे. एम. डी. पब्लिकेशन द्वारा कल्पना चावला की स्मृति में 'नवसदी नारी चेतना के स्वर' में देश भर की तीन सौ महिला रचनाकारों की कविताओं में 'जीवन क्या है ?' नामक कविता सम्मिलित.

सम्मान / पुरस्कार : *प्रथम कहानी संग्रह 'आधुनिक अहिल्या' सन् १९९२ में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा पुरस्कृत. १९९२ में ही आकाशवाणी भोपाल का प्रथम 'लक्ष्मीबाला सम्मान'. १९९८ में इंदौर लेखिका संघ द्वारा 'अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस' पर सम्मान. २००० हिंदी दिवस पर रोटरी क्लब नवलखा इंदौर द्वारा सम्मान. २००१ में उज्जैन में भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा 'महिला सृजन के विविध आयाम' के अंतर्गत संप्रेषित लेख के लिए 'राष्ट्रीय अंबेडकर साहित्य सम्मान' से विभूषित. २००२ में कहानी संग्रह 'ज़मीन अपनी अपनी' के संपादन के लिए संयुक्त रूप से ग़ाज़ियाबाद से 'निर्मलादेवी स्मृति पुरस्कार'.*

मम्मी ने नाक-भौं सिकोड़ कर कहा - 'हां-हां तू करेगी ! वक़्त-ज़रूरत करेगी ? मानसी की तो बात ही कुछ और है.'

'जब तक दीदी यहां है मेरे काम करने की कोई कीमत कहां होगी, इसलिए दीदी की शादी हो जाये फिर करूंगी. - मीनू मुझे जीभ चिढ़ाते हुए चली गयी.'

मम्मी-पापा हंसते हुए उसके बचपने और बचकानेपन की पैरवी करते और मैं सोचती रह जाती कि क्या मेरे जीवन में कभी बचपन आया ही नहीं ? क्या मैं भी इस तरह की बचकानी हरकत कर मम्मी-पापा से प्यार पा सकती हूं ? मेरे दिमाग ने कहा - 'नहीं, कभी नहीं, तुम मानसी हो मानसी. संयम-शील, बुज़ुर्गपना और एक हद तक गंभीरता ही तुम्हारा आवरण है.' एक बार स्वयं से पूछा, 'ऐसा क्यों ? क्या मेरे अरमान, आशाओं, इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं है ?'

स्वयं को डांट कर चुप करा दिया - 'तुम अपने भाइयों व बहन का आदर्श हो. मम्मी-पापा को निराश नहीं कर सकती.'

अगले दिन सुबह पिकनिक के लिए जाते हुए पापा ने कहा - 'मानसी एनजॉय करना.' पापा का गला भर आया था या मुझे यूं ही शंका हुई.

मीनू बड़ों की तरह बोली - 'दीदी, आज के दिन तो दिल खोल कर हंसना, गाना, चिल्लाना जो तुम्हारे जी में आये वो सब करना.'

मम्मी ने मीनू की पीठ पर धौल जमाते हुए कहा - 'दीदी को तू सिखायेगी ? तू बेहया की तरह हंसती रहती है वो बस नहीं है !'

मां की बात सुन कर अच्छा सा लगता तभी उनके चेहरे पर नज़र पड़ी तो आश्चर्य-चकित रह गयी. मां हंसते हुए मीनू को देख रही थी. मीनू पता नहीं कैसे पापा-मम्मी से अपनी बातें मनवा लेती है. यही सोचकर चुप रह जाती हूं कि मीनू के व्यवहार के लिए मुझे दोषी नहीं मान रहे थे. बाद के दिनों में कई बार सोच-सोच कर हैरान होती रही हूं कि क्या मुझे आदर्शमूर्ति बनाने के चक्कर में ज्यादा ही दबाकर रखा. या मेरे मन को मनोवैज्ञानिक तरीके से बस में कर लिया. हो सकता है मैं स्वयं भीरू स्वभाव की रही थी और दब्बू बनी रह गयी. जो भी हो उस समय तो कुछ समझ में नहीं आया. गया वक़्त दुबारा हाथ नहीं आता, सो मेरे लिए जीवन जैसा भी था, जो भी था गुज़रता चला गया.

हां, तो उस दिन पिकनिक में पहली बार एक नये एहसास को महसूस कर सकी. लड़के-लड़कियां अपने-अपने झुंडों में खेल, अंताक्षरी, हंसी मजाक करते हुए प्रसन्नचित्त दिख रहे थे. मैं किसी गुट में नहीं थी या सब गुटों में थी पता नहीं. कान में पड़ती आवाजों से मेरे होठें पर अपने आप हंसी आये जा रही थी. अंताक्षरी में जिस ग्रुप को गाने नहीं सूझते मैं बता देती. दोनों दलों में बहस छिड़ गयी कि 'मानसी हमारे ग्रुप में है.'

मैडम आरती घोष मेरी ओर देख कर हंस रही थीं. फिर अचानक बोलीं - 'अंताक्षरी को अभी यहीं रोक लो. अब मानसी का गाना सुनेंगे और बाद में बाकी लोग भी गायेंगे.'

मैं इतना घबरा गयी कि रोने-रोने को हो गयी. सबके सामने गाना मेरे बस की बात नहीं थी. घर में काम करते हुए गाना गुनगनाना या सुन कर कॉपी में पसंद के गीत लिखना अलग बात है.

एक लड़का शैतानी से बोला - 'टीचर, मानसी तो पहले रोयेगी. आप क्यों नहीं पहले गा देतीं हैं, शुरुआत अच्छी रहेगी.'

वो लड़का शरारत से मुझे देख रहा था. मेरी नज़र जैसे ही उस पर पड़ी मैं और डर गयी. लगा अंधेरे कुंए या खोह में फंस गयी हूं. मदद के लिए आवाज देना चाह रही हूं पर आवाज हलक में ही कहीं घुट गयी हो.

'समीर, अभी तुम चाहे जो मजाक उड़ा लो पर मानसी का गाना सुन लोगे तो बोलती बंद हो जायेगी.' - शायद घोष टीचर आगे कुछ और बोलना चाह रही थी, पर उस लड़के ने जिसका अभी-अभी नाम पता लगा, टोक दिया - 'टीचर मानसी को किसने गाना सुनाकर बोलती बंद की.'

सब जोर-जोर से हंसने लगे. कुछ लड़कियां मेरी मदद को आ गयीं - 'बुद्धिमान लोग ज्यादा नहीं बोलते और जो बकबक करते हैं वो .....' बात अर्थपूर्ण ढंग से अधूरी छोड़ कर समीर को छेड़ा जा रहा था. मम्मी-पापा के डर के बिना पहली बार उन्मुक्त रूप से दिल ने हंसना चाहा. इस तरह की चाह दिल को इतना सुकून और ख़ुशी देती है यह भी पहली बार जाना. घोष मैडम ने एक गीत गाना प्रारंभ किया पर एक ज़गह अटक गयीं. मैंने शब्द याद दिलाने के चक्कर में गीत पूरा गा दिया. यह सब अति स्वाभाविक रूप से इस तरह हुआ कि जब गीत ख़त्म हुआ और सन्नाटा तोड़ते हुए तालियों का शोर हुआ तब मेरा ध्यान गया. बाकी दूसरे ग्रुप भी वहीं सिमट आये थे. उस दिन अनायास मेरे जीवन में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ. स्कूल में फ्री पीरियड में और स्कूल के कार्यक्रमों में गाने का आग्रह और अवसर भरपूर मिल रहा था. समीर भी गाने का शौकीन था और अच्छा गाता भी था. कभी-कभी दो गानों में उसने मेरे साथ गाया भी. गायन के कारण मेरे मन को जो प्रसन्नता हो रही थी वह मेरे व्यवहार में, चेहरे पर सब ज़गह पसर गयी थी. पर पापा-मम्मी के सम्मुख स्वयं को संयमित रखने की कोशिश करती रहती.

मेरा यह स्वाभाविक सुखद एहसास अल्पकालीन ही रह पाया. शायद वो घटना न होती तो दीर्घकालीन हो जाता या कम से कम मीठी याद बन सकता था. तब स्कूल में आखिरी वर्ष था. एक दिन समीर ने यूं ही पूछ लिया- 'मानसी का अर्थ क्या होता है ?'

मैंने बड़ी सहजता से कहा - 'जो मन की सोच और प्रेम से उत्पन्न हुआ हो.' तभी उसने शरारत से हंसते हुए कहा - 'गलत,

मानसी का अर्थ होगा जिसे हवा भी न छू सके.'

मैं असमंजस में थी पर आगे कुछ न बोली. कक्षा की एक तेज-तर्रार लड़की बोली - 'समीर का अर्थ भी हवा ही होता है.'

उसकी व्याख्या से मैं शर्म से संकुचित हो गयी. समीर की बात दिल को अच्छी भी लगी और एक मीठा सा अहसास भी जगा गयी. पर हमेशा की तरह स्वयं को चाक-चौबंद रख शरीर पर कवच की तरह लपेटे रही. नववर्ष आ गया था और बोर्ड की परीक्षा की तैयारी जोरदार तरीके से प्रारंभ कर दी थी. उस दिन जनवरी की दो तारीख़ थी. कक्षा की कुछ लड़कियां खुसर-फुसर कर रही थीं, 'तुमको किसका कार्ड आया ?'

'और तुम्हें ? मानसी तुम्हें तो समीर का न्यू इयर कार्ड आया होगा ?' लड़कियों ने मुझे घेर लिया.

मैंने पूछा, 'क्यों, क्यों आयेगा ?' 'बेवकूफ, नया साल शुरू हो गया यह याद भी है या नहीं, "क्यों आयेगा !' सच, भोली है या बुद्धू पता नहीं.'

'सॉरी, पर मुझे यह भी नहीं मालूम था कि तुम लोग किस बारे में बात कर रहे हो, इसलिए अचानक पूछा तो ऽ ऽ'.

'याने तुझे ग्रीटिंग आया है ?'

'नहीं भई नहीं. अगर ऐसा कुछ हो जाता तो मम्मी-पापा मेरा स्कूल आना ही बंद करा देते,' मैं नकली हंसी बिखेरते हुए रोते स्वर में बोली.

'फिक्र न कर आज आ जायेगा.' - एक सहेली चिढ़ाते हुए बोली.

उस दिन स्कूल में पूरा समय इसी चिंता में बीता कि कहीं ग्रीटिंग न आ गया हो. मन में डर लिये हुए ही घर पहुंची और डर सही साबित हुआ. मम्मी तैयार बैठी थीं - 'यह समीर कौन है ? तेरी दोस्ती उससे इतनी कैसे बढ़ गयी वो नववर्ष का कार्ड भेज दे. तुझे कितना ढंक कर, संभाल कर पाला और आज यह गुल खिला रही है.'

जितनी उम्मीद की थी उससे कहीं बड़ा हंगामा हो गया. बिना किसी कारण के अपराधी बनी और स्वयं को बेगुनाह साबित करने के लिए एक झूठ मुंह से निकल गया.

'मैं तो किसी से बात ही नहीं करती, बस अपनी पढ़ाई और किताबों के अलावा कुछ नहीं जानती.'

'याने तू समीर नाम के किसी लड़के को नहीं जानती ?' - पापा ने पूछा.

'नहीं तो' - अपनी बात को पुख्ता करने की कोशिश में झूठ हनुमानजी की दुम की तरह लंबी होती चली गयी. 'वैसे कक्षा में एक लड़का है जो मुझसे बात करना चाहता है, मजाक करता है. पर मैं उसे देखती भी नहीं, शायद उसी का नाम हो.'

'पहले ही बता देती तो कार्ड भेजने की हिम्मत तो न करता.'

बहुत डर गयी थी, मानो खून कर दिया हो और मुंह छुपाने को ज़गह नहीं मिल रही हो. पापा स्कूल से नाम न कटा दें, ये डर भी सता रहा था.

अगले दिन पापा स्कूल आये और समीर को प्रिंसीपल के कमरे में बुलाकर बाकायदा वार्निंग दिलवा दी. घोष टीचर ने पापा को समझाने की कोशिश की - 'समीर अच्छा लड़का है, पढ़ाई में भी तेज है, आप एक मामूली सी बात को लेकर किसी के जीवन में दाग़ नहीं लगा सकते.'

'यह मामूली बात है, आप टीचर होकर इस तरह सोचती हैं. मुझे पहले पता होता तो अपनी बेटी को यहां एडमीशन ही नहीं दिलाता.' - पापा भड़कते हुए बोले.

घोष टीचर भी गुस्से में आ गयी थीं पर गुस्सा पीते हुए बोली - 'मैं तो एक साधारण इंसान और जिम्मेदार शिक्षिका के रूप में कहना चाह रही थी. छात्र-छात्राओं में सामान्य स्नेह भाव को ग़लत नहीं मानती. बच्चों के सहज मनोविकास के बारे में हमें भी ट्रेनिंग मिलती है. मानसी आपकी बेटी है उसे पर्दे में रखें, कवच पहना दें या जो हवा सबको स्पर्श करती है उससे भी बचाना चाहें आपकी मर्जी है.' - क्षमा मांग कर चुप हो गयी.

वार्षिक परीक्षा तक के वो दो-अढ़ाई महीने मेरे लिए सजा से कम नहीं थे. पूरे स्कूल में मैं अकेली हो गयी और बाकी सब एक तरफ़ ऐसा लग रहा था. समीर ने मेरी ओर देख कर एक शब्द कहा 'दब्बू' और इस तरह रहा मानों कुछ हुआ ही न हो. मैंने समीर को अनायास, अनचाहे नीचा दिखाया था और अब स्वयं अपमानित और चेहरे पर कालिख पुती महसूस कर रही थी.

अच्छे नंबर लेकर पास हो जाने पर भी मेरे आगे के अध्ययन पर प्रश्न चिन्ह लग रहा था 'कहीं ऊंच-नीच हो गयी तो,' 'इसे इतना पढ़ाने के बाद इसके लिए इससे अधिक पढ़ा लिखा दूल्हा कहां से लायेंगे ? इसी तरह के एक नहीं ढेरों बहाने जो वास्तव में मम्मी स्वार्थवश भी कर रही थी. इतनी अच्छी अल्लाह की गाय उन्हें कहां मिलेगी जो उनका आधे से अधिक काम चुपचाप निपटा दे.'

मैंने मन में ठन लिया था, चाहे कुछ हो जाये आगे पढ़ूंगी, मेरा अधिकार है कि मैं महाविद्यालयीन शिक्षा ग्रहण करूं. घोष टीचर ने भी मेरी इच्छा को सहारा दिया. उस दिन दिल को कड़ा कर पापा से पूछ लिया - 'पापा मैं घर का इतना सारा काम करती हूं, इतनी मेहनत से पढ़ती हूं, गिन कर चार जोड़ी कपड़ों में रहती हूं, कोई शिकायत या मांग नहीं करती. दूसरी तरफ़ आप मीनू को देखकर खुद ही समझ सकते हैं कि वो हर बात में मुझसे विपरीत है, फिर भी उससे आप लोगों को कोई शिकायत नहीं रहती. उसकी ग़लत बातें भी मान ली जाती हैं. हो सके तो इसका कारण बताइए.' - बात ख़त्म करते-करते मैं हिचकी लेकर रो पड़ी.

पापा ने मेरी पीठ सहला कर चुप कराने की कोशिश करते

हुए कहा - 'मानसी, हमसे सही में गलती तो हुई है. तुम्हें आदर्श बेटी, बहन, लड़की बनाकर हम अपने कर्तव्य को समाप्तप्राय मान बैठे. दूसरी तरफ तुम्हारा तनिक भी विरोध न पाकर लगा कि हम ठीक कर रहे हैं. हमारा स्वार्थ भी पूरा हो रहा था सो लगा कि इसी तरह जीवन शांति से निकल जायेगा. पर मानसी अब ऐसा नहीं होगा. मैं वादा करता हूं कि 'तुम आगे पढ़ोगी वो भी जितनी तुम्हारी इच्छा हो.'

पापा का बदला हुआ रूप मुझे अचंभित कर गया. मैं तो आज लड़ कर इस पार या उस-पार के मूड में थी. पापा के व्यवहार ने मेरे स्वभाव के विपरीत लड़ने वाले मनोभाव से उबार लिया.

तभी मां वहीं आ गयी - 'क्या कह रहे हैं आप ? कॉलेज में पढ़ायेंगे ? वहां कितने बड़े-बड़े लड़के होंगे, आग और फूस को पास.' पहली बार पापा ने मम्मी के विरोध में अपने स्वर को तेज किया - 'बहुत हो गया ! दुनिया के सारे क़ानून, सारी अड़चन इस नन्हीं जान पर ही ढा देंगे क्या ? वो हमारा आदर करती है, बात मानती है तो दब्बू बनाकर छोड़ दिया. नन्हीं जान के दुखते दिल की थाह नहीं ले पाये, सिर्फ़ इसलिए कि हमारा स्वार्थ पूरा हो रहा है !'

मां कुछ बोलने को मुंह खोल रही थी, पर पापा ने रोक दिया- 'नहीं, आज मैंने जो कुछ बोला यही अंतिम है, आगे कुछ न बोलो.'

'पर, कहीं कुछ ऊंच -... ' मां को मैंने बात पूरी ही नहीं करने दी. दिल में जो दुख, क्रोध और नाइंसाफ़ी का दबा-दबा गुबार था वो पापा की मेरी ओर से तरफ़दारी करने से तैश में लावा की तरह तूफानी तेजी से निकल पड़ा - 'मां, चाहे तो स्टैंप पेपर पर लिख कर दे देती हूं कि मुझे कोई इंसान तो क्या हवा भी छू नहीं सकेगी. मैं अविवाहित ही रहूंगी और मर जाने के बाद मेरी लाश को कोई छू न पाये यह ध्यान रखना. कौए, चूहे, कीड़े-मकोड़े खा लेंगे.'

सिर के अंदर गर्म-गर्म कुछ भरा हुआ लगा, पूरा शरीर मलेरिया के मरीज की तरह कंपकंपा रहा था. बेसुध सी पलंग पर गिर कर हिचकी ले-लेकर ऐसा रोयी मानो इतने समय से रुके आंसू बाढ़ की तरह बह निकलेंगे.

उस दिन तैश में जो भी बोला उसे आज तक कायम रखा. बहन, भाइयों के विवाह में पापा की आर्थिक मदद और मम्मी की हर तरह से सहायता की. अपने उस कथन को रखने के लिए मैं आत्मकेंद्रित और अपने कामों में मशगूल रही जिसका लाभ मुझे 'करीयर' के रूप में मिला. मम्मी शायद अपराधबोध से ग्रस्त थीं, कई बार गिड़गिड़ायीं कि मैं विवाह के लिए हां कर दूं. पर जिसे हवा ही स्पर्श न कर सके उसे इस तरह की गिड़गिड़ाहट और आदेश की भला क्या परवाह होती !

आज पवन के साथ इस पहाड़ी पर बैठे हुए अपना अतीत सुनाते हुए हवा के झोंके ने मेरी लटों को उड़ाया, मेरे आंचल को फहरा दिया और तनबदन में एक सुरसुरी पैदा कर दी. कुछ कुछ ऐसा ही एहसास, शायद...शायद एक बार हुआ था, पर ठीक से महसूस भी कर पा रही हूं और खुशी भी मिल रही है. शायद पहली बार उन्मुक्त हो किसी ऐसे अनुभव से एक हो रही थी.

'मानसी' मैं तो पहले ही कह चुका था कि मुझे तुम्हारे अतीत में जाने की चाह नहीं. पिछले कुछ वर्षों में 'कुलीग' के रूप में आस-पास के केबिन में काम करते हुए तुम्हें जितना देखा, जाना उससे प्रभावित हुआ. ऑफिस में हम दोनों को 'बैचलर क्लब' के सदस्य कह कर मजाक किया जाता है. मैंने तो बस एक जरा सा प्रश्न किया कि तुमने विवाह क्यों नहीं किया ? तुमने तो स्वेटर उधेड़ने की तरह अपना अतीत उधेड़ कर रख दिया. अब क्या यह नहीं जानना चाहोगी कि मैंने विवाह क्यों नहीं किया.' - दफ़्तर में शांत, गंभीर और कम बोलने वाला पवन इतना मुखर हो उठा. विश्वास ही नहीं हुआ.

'किसी और दिन सुनाना. हम जब यहां आये थे तो सूर्य अस्त भी नहीं हुआ था. अब देखो पूनम की दूधिया चांदनी फैली पड़ी है. पवन, पहले तो आपको कई बातों के लिए धन्यवाद देना चाहूंगी.' - मानसी एक नयी दुनिया में विचरते हुए बोली.

'चलो ठीक है, जल्दी से धन्यवाद का कार्यक्रम समाप्त कर दो फिर अपना अतीत खोलूंगा.' - पवन किसी जिद्दी की तरह बोला.

'पहाड़ी पर से सूर्यास्त का अद्‌भुत दृश्य दिखाने के लिए धन्यवाद, मेरे ठहरे हुए जीवन, जिसका कोई भविष्य नहीं और अतीत मैं भूल रही थी. आज आपके कारण दोहरा पायी. तीसरा धन्यवाद पूनम की इस दूधिया चांदनी में पहाड़ और प्रकृति के साथ मुझे भी सराबोर करने के लिए.'

'अरे हां, सबसे बड़ा धन्यवाद मेरे कुचले हुए एहसास जो न जाने दिल के किस तह में दबे पड़े थे, को उन्मुक्त होकर महसूस करने के लिए.' - गुनगुनी मादक हवा में सिहरती मैं इतनी प्रसन्न कभी हुई थी क्या ? नहीं याद तो नहीं आता.

'मानसी, आपने तो मेरे अतीत से अधिक लंबा धन्यवाद दिया. मेरा अतीत तो बस इतना ही है कि माता-पिता जल्दी से गुज़र गये. सो छोटे भाई-बहनों की जिम्मेदारी निभाते हुए मेरी उम्र कब और कैसे निकलती गयी पता ही नहीं लगा,' पवन एकदम चुप हो गया. मैं उसके चेहरे की ओर देख रही थी कि कुछ बोलेगा.

'क्या देख रही हो ? सुना तो दिया, अब हम चलें !' - पवन उठते हुए बोला.

'यह कोई अतीत हुआ, इतना सा, इतने वर्षों का निचोड़ भी इससे कई गुना अधिक ही होगा,' - मैं आश्चर्य से बोली.

'जो भी है तुम्हारे सामने है. मैं वैसे भी वर्तमानजीवी हूं.' भूत तो बीत गया फिर आने से तो रहा, भविष्य ने हमारे लिए क्या सहेज कर रखा है, मालूम नहीं. जो कुछ हम दावे के साथ

कह सकते हैं वो आज के बारे में, वर्तमान के बारे में. अंग्रेजी में जिसे 'प्रेजेन्ट' कहा जाता है, जिसका एक और अर्थ भी होता है, उपहार मैं तो वर्तमान को उपहार की तरह ही लेता हूं और खुश रहता हूं.

पवन ने वक़्त को, काल को इतनी सुंदरता से पारिभाषित किया कि मैं ठगी सी देखती रह गयी. लगा आज तो हवा ने गुस्ताखी कर ही दी, मुझे छू ही लिया. पहले समीर बनकर आना था अब पवन बन कर आ गया. साड़ी के उड़ते पल्ले को दबाया, हवा में लहराते बालों को समेटा और एक लंबी सांस खींच कर उस खुशनुमा फिज़ा को अपने अंदर उतार पवन के साथ चल दी.

४१ डी/डी/एस-३, स्कीम-७८, अरण्य, ए-बी रोड, इंदौर - ४५२ ०१०

लघुकथा

सड़ गये सब खेत

महीपाल भूरिया

'खिमला खराड़ी' झाबुआ जिले के कल्याणपुरा बाजार के उत्तर में बसे भील आदिवासियों से बसे नवापाड़ा गांव का छोटा किसान था. अनावृष्टि के कारण वह प्रतिवर्ष अपना गांव छोड़, मारा-मारा मज़दूरी की तलाश में पत्नी व बच्चों के साथ भटकता फिरता था. यहां राहत के नाम पर प्रतिज्ञाएं तो होतीं थीं, पर होता कुछ नहीं था. इस वजह से उसके सारे परिवार का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता था. इस वर्ष मध्यप्रदेश के बाहर सात माह तक मज़दूरी करने के बाद भी वह कई कारणों की वजह से ख़ास बचत नहीं कर पाया था. जून माह में वह अपने पितृ-ग्राम नवापाड़ा दुःखी मन लौट आया. कल्याणपुरा में अपने पुराने परिचित व्यापारी से उसने अच्छे बीज उधार लिये. बरसात आने पर पड़ोसी के बैल किराये पर लेकर ख़ुशी-ख़ुशी बीज बो दिये.

बीज उगे. अच्छे थे, धीरे-धीरे फसल भी बढ़ने लगी. फसल की हरियाली देख खिमला और उसके परिवार का मन ख़ुशी की वजह से खिल उठता था. तीन-चार साल बाद अच्छी फसल देख, तरह-तरह के मोहक विचार उनके मन में उठते थे. लुभावनी फसल को देख कर, खिमला की बेटी सुमड़ी ने कहा - "पिताजी इस वर्ष हमें मज़दूरी के लिए दर-दर भटकना नहीं पड़ेगा. मैं इस वर्ष यहीं रहूंगी. गांव की सखियों के संग, विवाह-बारात, नदी-मेले आदि में जाऊंगी, नयी साड़ी ओढ़ूंगी, गहने भी पहनूंगी, नाचूंगी और अपने भूले-बिसरे सभी लोक-गीत गा कर आनंद मनाऊंगी. वे सारे सदाबहार गीत फिर मेरे मन में ताजे हो आवेंगे."

पक गये. गांव के वन में जोरदार 'जातर' भी हुई. भान्जों, भान्जियों व बच्चों को भुट्टे खिला कर 'नवाई' भी कर ली खिमला खराड़ी ने. पर बरसात बंद नहीं हुई. बरसात गिरती ही रही और जोरदार होती रही. मक्का खड़ी की खड़ी सड़ गयी. मूंग, सोयाबीन और उड़द का भी यही हाल हुआ. भुट्टों और फलियों को तोड़ कर कहीं सुखाने का अवसर भी नहीं मिला. अगर तोड़ भी लेते तो सुखाते कहां ? ऐसे भी सड़ जाते सब दाने पड़े-पड़े.

खेतों में जो उड़द और सोयाबीन थे, पौधों पर जहां के तहां सड़ गये. समुड़ी के लिए वह बड़ा दुःखमय दृश्य था. प्रतिदिन वह चुपके से अपने खेतों में जाकर अकेली ही रोती थी. उसे यह देखकर जरा भी नहीं रहा जाता था. कभी उसकी सहेली आकर उसे सांत्वना देती थी. कुछ भुट्टों के 'पोगरे' घर वालों ने फोल लिये और वैसे ही उड़द, सोयाबीन और मूंग की फलियां भी कुछ तोड़ ली गयीं. उसके बाद खिमला खराड़ी दूसरे ही दिन सबेरे जल्दी उठकर अपने पड़ोसी के घर से पशु लाया, और घर तथा गांव वालों की नज़रों में देखते ही देखते, सभी सड़े खेतों की फसल चरा दी. समुड़ी पड़ोसी के पशुओं को अपनी मेहनत की फसल वाले खेत चरते देख, ढल-ढल मारी रोयी. ...पर वह अपने दिल का दुःखड़ा किससे कहे ? फिर खिमला खराड़ी दूसरे दिन अपनी पत्नी, बेटी समूड़ी और बच्चों को लेकर, गुजरात की ओर दुःखी मन से कूच कर गया.

जीवन-ज्योति, मेघनगर, जिला-झाबुआ (मं. प्र.)-४५७ ७७९

आमने / सामने

'कहानी में ढली मेरी संवेदनाएं'

✍ मंगला रामचंद्रन

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, बिकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. ख़सिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, संजीव निगम, सूरज प्रकाश और रामदेव सिंह से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है मंगला रामचंद्रन की आत्मरचना.)

एम. ए. की एक छात्रा अपने लघु शोध प्रबंध के दौरान मुझसे प्रथम प्रश्न ही ऐसा कर बैठी कि मैं कुछ समय के लिए पशोपेश में पड़ गयी.

'आप क्यों लिखते हो ?' ये भी भला कोई प्रश्न हुआ.

पर इस प्रश्न ने वास्तव में मुझे सोचने, अपने अतीत में झांकने व अपनी कथा-यात्रा पर एक दृष्टि डालने का मौक़ा दिया.

एक पारंपरिक ब्राह्मण परिवार के शिक्षित पिता रोजी-रोटी की तलाश में बंबई (आज की मुंबई), अहमदाबाद तथा बाद में इंदौर आ गये. मैं माता-पिता की सातवीं संतान, अपने अन्य भाई-बहनों के मुक़ाबले पढ़ाई में साधारण थी. याने परीक्षा में नंबर लाने व कक्षा में 'रैंक' लाने के हिसाब से. पर कक्षा में उत्तर देना, दूसरों को सवाल बता देना, संगीत में अव्वल रहना, खेल-कूद में जोशो-ख़रोश से भाग लेना आदि के कारण कक्षा की छात्र-छात्राओं व टीचर्स के साथ अच्छा तालमेल था. पांचवी-छठी कक्षा से ही कहानी-उपन्यास व सिनेमा का एक अद्‌भुत आकर्षण मुझे अपनी ओर खींचता था. उन दिनों कोर्स की किताबों के अलावा कुछ पढ़ना या सिनेमा की ओर आकर्षण रखना अच्छा नहीं माना जाता था. पुस्तकें तो स्कूल की लाइब्रेरी से कक्षा के स्तर के हिसाब से महीने में दो बार इश्यू होती थीं. मेरा ख़्याल है कि पूरी कक्षा में मैं अकेली ऐसी थी ज़ो दोनों बार इश्यू कराती थी, मुझे तो वो भी कम लगता था.

मात्र तमिल लिखने-पढ़ने वाली मां कम पढ़ी-लिखी थी. पिता दस वर्ष तक सीलोन (श्रीलंका) रहे और भाई-बहन अपनी-अपनी पढ़ाई में व्यस्त. सो कहानी-उपन्यास किसी न किसी तरह पढ़ ही लेती थी पर सिनेमा नहीं देख पाती थी इसका रंज बना रहता था. पूरे वर्ष भर में अधिक से अधिक दो फिल्म देखने को मिलतीं सो भी जांच परख कर. अपनी उफनती इच्छाओं को अंदर ही अंदर दबाये रखा पर मरने नहीं दिया. घर पर तमिल पत्रिकाएं आती थीं. 'कल्कि' व 'कलैमकल' (याने कला की पुत्री या देवी) तो साहित्यिक पुट लिये हुए श्रेष्ठ पत्रिकाएं थीं. एक पत्रिका हास्य की भी आती थी. दैनिक समाचार पत्र अंग्रेजी का टाइम्स ऑफ इंडिया आता था. हिंदी भाषा की कोई पत्र-पत्रिका नहीं आती थी. तमिल पत्रिकाओं से कहानियों का चस्का बढ़ा, धारावाहिकों ओर हास्य की ओर मन की उड़ान पर फैलाने लगी थी. मां को तामिल के मुहावरे जब तब उछालने की आदत थी. घर में मैं ही शायद ऐसी थी जो उनको लपक लिया करती थी.

स्कूल से निकलकर कॉलेज आयी तो पारिवारिक कारणों से विज्ञान न लेकर कला संकाय में आना पड़ा. स्कूल की अधिकांश सहेलियां विज्ञान में चली गयीं थीं. कला संकाय में ही एक विषय गणित लेकर इस कमी की पूर्ति की. बाद में सोचने पर लगता है कि विज्ञान न लेकर मैंने एक तरह से वरदान ही पाया. अपने विषयों की कक्षा के बाद मेरे दो ही ठिकाने हुआ करते थे, लाइब्रेरी व टेबिल-टेनिस की टेबल. धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, नवनीत, सारिका और न जाने कितनी ही पत्रिकाएं, आखें चौंधिया गयीं. इतनी खुश-इतनी खुश कि एक के बाद एक पत्रिकाएं पढ़ती चली जाती. बाक़ी लड़कियां आतीं और अपनी पसंद की पत्रिकाएं न मिलने पर चली जातीं. मुझे तो हिंदी-अंग्रेजी की कोई भी पत्रिका हो पढ़नी ही थी. मराठी की 'किर्लोस्कर' व कई अन्य पत्रिकाएं भी कभी-कभार पलट ही लेती थी. मेरी हिंदी में सुधार कॉलेज के इन्हीं दिनों में हुआ. पत्रिकाओं में धारावाहिकों में पात्रों की भावनाओं के साथ एकाकार होते-होते कल्पना शक्ति इतनी बढ़ जाती कि कई बार पात्र जाने पहचाने से लगने लगते. संवेदनशीलता बढ़ती चली गयी. स्वभाव में हास्य मिला हुआ था इसलिए आवेग में बह नहीं जाती थी.

स्नातक होते-होते अचानक विवाह तय हो गया. उन दिनों लड़कियों का भविष्य विवाह में ही तलाशा जाता था. उनके स्वयं के सपने या इच्छाओं का ख़्याल नहीं किया जाता था. सौभाग्य से बढ़ते हुए मेरे हिंदी प्रेम के अनुरूप मध्यप्रदेश में कार्यरत पति मिले. हम पति-पत्नी को शुद्ध हिंदी में संवाद करते देख सास का तमिल प्रेम व ससुरजी का अंग्रेजी प्रेम कुछ उग्र रूप से जागृत हुआ. उस समय तो कुछ तनाव सा हो गया था. पर मेरे लिए यह भी अच्छा हुआ. तमिल व अंग्रेजी दोनों भाषाओं की पुस्तकें पढ़ने लगी. हिंदी की कुछ छुप-छुपाकर पढ़ती. पति का मध्यप्रदेश के विभिन्न इलाकों में तबादला होने से हिंदी भाषा में अधिक से अधिक संवाद होने लगा. हिंदी भाषी लोगों को नज़दीक से देखने-समझने का मौका मिला, उनकी जो बात, या चीज़ मन को भा जाती उसे अपनाया भी. पर अपनी परंपरा की सही और अच्छी लगती बातों को नहीं छोड़ा. मेरे इस आचरण से समाज के दूसरे वर्ग के लोग मुझसे और अच्छी तरह जुड़ते चले गये. प्रतिदिन सुबह-सुबह घर के बाहर पानी छींट कर रंगोली बनाती. उसका औचित्य क्या है से लेकर दक्षिण के खान-पान, त्यौहार, विवाह सबके बारे में उनकी जिज्ञासा होती. उनकी जिज्ञासा शांत करते-करते एक तरह से मेरी खोज भी पूरी होती और इसी तरह कई स्तरों पर अज्ञान दूर होता गया.

घर-परिवार, बच्चों के, बड़ों के ढेरों कार्य कर शरीर भले ही थक कर चूर हो जाता, पर मन रीता ही लगता. 'जीवन यू ही ख़त्म हो जायेगा ?' ये बात प्रश्न की तरह कुंडली मारकर मन में कभी-कभी बवाल पैदा करती थी. अभ्यस्त हाथ काम करते रहते और मन देखी, सुनी या पढ़ी किसी बात में छुपी विडंबना, दुख या अन्य मनोभावों को गुनता रहता. कई बातें मन को खटकतीं, कुछ ग़लत लगतापर किसी का अनादर न हो इस डर से मौन रह जाना पड़ता था. एक प्रमुख अनुभव ने भी मुझे लेखन की ओर ठेला. काफी समय से मैं महसूस करती आ रही थी कि मैं जो पढ़ रही थी पूर्व से ही उसी तरह के विचार मेरे भी थे. फिर लगा कि अरे, मैं भी तो लिख सकती हूं. कम से कम कोशिश तो कर सकती हूं. इससे दिमाग में मची खलबली भी शायद कम हो जाये. सन् १९७१ में एक बड़ा सा लेख लिखा व भोपाल के दैनिक में भेज दिया. ज्यों का त्यों छपने पर और तीन-चार लेख भेजे. फिर कहानी की ओर मुड़ी. दिल्ली के 'जाह्नवी' में मेरी प्रथम कहानी 'बदली छंटी' आयी. उस समय तो ऐसा लगा, मानों मैंने कोई किला फ़तह किया हो. बाद के दिनों में वही कहानी किसी अनगढ़ लेखनी की लगने लगी. दिल्ली-प्रेस समूह की पत्रिका में एक कहानी भेजी, तुरंत जवाब व वाउचर आ गया. घर में सबके लिए आश्चर्य था, क्योंकि किसी को बताया नहीं था. फिर तो दिल्ली-प्रेस से बहुत सी रचनाएं आयीं और अधिकतर सारी कहानियों पर 'आपके पत्र' के अंतर्गत कहानियों की तारीफ़ भी. उन वर्षों में इसी को कामयाबी समझ कर ख़ुश थी. क्योंकि लिखने का सिलसिला प्रारंभ हो चुका था, कुछ अर्थ कुछ यश भी हाथ आ रहा था. पर मन में एक बेचैनी और लेखन में एक तरह की कमी का एहसास ज़रूर होता था.

उस कमी और बेचैनी का कारण बहुत लंबे अर्से बाद समझ आया. मेरा दुर्भाग्य ही कहिए कि मुझे ऐसा कोई मित्र नहीं मिला जो मेरा लिखा पढ़कर मुझसे चर्चा करे या कोई राय दे. मेरे भाई-बहन हिंदी से एक तरह से दूर थे. मैं पाठक बहुत अच्छी थी, इसमें मुझे लेशमात्र भी संदेह नहीं था. अच्छी और स्तर की पत्रिकाएं पढ़ती ज़रूर थी पर लगता कि मैं इन पत्रिकाओं की मात्र पाठक ही हो सकती हूं. अपने लेखन में काफी सुधार भी आया पर अच्छी-अच्छी रचनाओं को दिल्ली प्रेस में ही भेजती रही. मन में कहीं यह भावना भी थी कि मैंने हिंदी साहित्य का अध्ययन तो किया ही नहीं तथा स्नातक का क्या मूल्य !

आख़िर एक दिन ऐसा आया कि मैंने अपनी समस्त लेखनी शक्ति और ध्यान को केंद्रित कर 'कोढ़' पर एक लंबी और सशक्त कहानी 'दहशत की परछाइयां' लिखी. 'धर्मयुग' में भेज भी दी. स्व. धर्मवीर भारती के हस्तलिखित पत्र में कहानी की लंबाई अधिक होने व छोटी करने का अनुरोध था. कहानी लिख दी वही मेरे लिए बड़ी बात थी. इतनी अक्ल कहां थी कि उसे काट-छांट कर छोटी कर दूं. मैंने सोचा दूसरी लिख कर भेज दूंगी और उसे फिर दिल्ली प्रेस में भेज दिया. लगभग उसी समय दैनिक हिंदुस्तान दिल्ली में 'मां' प्रकाशित हुई. बीच-बीच में यूं ही थोड़ा सा उत्साहवर्धन होता रहा. भोपाल में रहते हुए वरिष्ठ लेखक-लेखिकाओं को इंदौर की 'नई दुनिया' में प्रकाशित होते व पठन करते देखती. नई दुनिया का रविवारीय अंक साहित्य के पाठकों के लिए बहुत मायने रखता था. इसमें छपना प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी. आख़िर एक कहानी 'जीवित-लाश' भेज ही दी. विषय पारिवारिक-सामाजिक ही था, पर न जाने क्यों बेटी ने टोका कि जासूसी उपन्यास की तरह नाम क्यों रखा ! सो सोच लिया कि नहीं छपेगी. तभी छपकर आयी, मेरे लेखन को नयी दिशा भी मिली. नई दुनिया में बहुत सी कहानियां छपीं और तभी साहित्यकारों ने मुझे कहानीकार के रूप में पहचाना.

इसके बाद तो देशबंधु, वागर्थ, वामा, वनिता (मलयालम), हिमप्रस्थ, राजस्थान पत्रिका, मसि कागद सभी में आयीं. कहानियों के साथ-साथ लेख, हास्य-व्यंग्य व समीक्षाएं भी प्रकाशित हुईं. आकाशवाणी भोपाल से नियमित रूप से वार्ताओं व कहानियों का प्रसारण होता रहा. महिला कार्यक्रमों का संचालन भी किया.

सन ८५-८६ तक मैं अपने आपको लेखिका ही नहीं मानती थी, साहित्यकार तो बहुत दूर की बात थी. संवेदनाओं के स्तर पर, अपने विविध विचारों व भावों को लेखनी से अपनी समझ के अनुसार स्वरूप दे देती थी. कभी लेख, कभी कहानी के रूप में. हर कहानी को समाप्त करने के बाद लगता, शायद यही मेरी अंतिम कहानी हो. पर पठन का शौक नियमित रूप से

होने के कारण कदाचित् सोचने-विचारने को व किसी बात पर अपनी प्रतिक्रिया दर्ज़ कराने की इच्छी होती रहती थी. सन् ८७-८८ में मेरे पति का तबादला खरगोन (प. निमाड़) हो गया था. अब सोचने पर लगता है कि इस बात का लाभ कदाचित मुझे हुआ. उन दिनों खरगोन में प्रगतिशील लेखक संघ का तीन दिवसीय सम्मेलन हुआ. मुझे तब तक इन संघों आदि का जरा भी भान नहीं था. उन्हीं दिनों प्रदेश मे प्रमुख दैनिक नई दुनिया में बाल मनोविज्ञान पर आधारित मेरी कहानी 'सज़ा' आयी. लेखकों में चर्चा हुई, पर मुझे कुछ पता नहीं था. वहीं के एक युवा व सशक्त कथाकार ने अंदाज़ लगाया कि यहां के पुलिस अधीक्षक रामचंद्रन नाम के हैं तो कहीं....फोन किया 'आप श्रीमती रामचंद्रन ही मंगला रामचंद्रन हैं क्या ?'

तस्दीक कर के घर पहुंच गये. उनकी साहित्यिक बातें मुझे अधिक समझ नहीं आयीं और मुंह से निकल गया, 'मैं कोई साहित्यकार नहीं हूं.'

'इतने वर्षों से लिख रही हैं, ये सब क्या है ?' - उन्होंने कौतूहल और हास्य से पूछा.

मैंने साफ़-साफ़ कहा - 'बस कुछ विचार मन को मथते रहते हैं और कोई मुझसे कहानी लिखवा लेता है. पर हर बार लगता है कि बस, यही आख़िरी कहानी है.'

उम्र में मुझसे छोटे उन कथाकार ने एक बड़े भाई की तरह नसीहतें दीं और मैं सम्मेलन में गयी. सच कहूं तो तभी मेरी लेखनी को नया विस्तार, नयी सोच मिली. उन सज्जन की प्रेरणा अभी तक सतत मिल रही है. पर मैं महसूस करती हूं कि उनकी सलाह पूरी तरह मान कर अमल कर पाऊं तो श्रेष्ठ लेखिका बन सकती हूं. पर क्या करूं, कदाचित लेखन में मेरी अपनी सीमाएं हैं. हो सकता है मैं बहुत महत्वाकांक्षी नहीं हूं. तभी तो दो दशक तक लिखने के बाद, अस्सी-नब्बे कहानियों के प्रकाशन के बाद मेरा प्रथम कहानी संग्रह १९९२ में प्रकाशित हुआ. तत्पश्चात् आठ वर्षों तक बस लिखना, प्रकाशित व प्रसारित होना, दूसरे संग्रह के लिए सोचा ही नहीं. सन २००० में किताबघर, दिल्ली के विकास पेपरबैक्स से दूसरा संग्रह आया. फिर ऐसा हुआ कि सन २००३ तक तीन संग्रह और आ गये सो अब लगने लगा कि हां लिख सकती हूं. पर फिर भी कथाकार ही हूं, साहित्यकार नहीं.

लिखने का क्रम बीच-बीच में लंबे समय के लिए टूट जाता था. जैसे शिशु जन्म के बाद दो वर्षों तक, सास-ससुर की अस्वस्थता के चलते. मगर, मन में एक आशा हमेशा बनी हुई रहती कि लिखना पुनः प्रारंभ हो जायेगा. यही हुआ भी. हर टूटे क्रम के बाद एक नयी और परिपक्व सोच के साथ पुनः लिखने में जुट जाती. यह मेरा आशावादी दृष्टिकोण था जो मेरे लिखने में भी परिलक्षित होता रहा है. हालांकि यह बात मुझे बहुत बाद में एक पत्रकार के कारण समझ आयी. सन् ९० की बात है, भोपाल के एक प्रतिष्ठित दैनिक का जाना पहचाना नाम (परिचित नहीं) फोन पर बोले कि आपसे बातें करनी हैं, अभी आ सकता हूं क्या ? मैंने स्वभाववश 'हां' तो कह दिया, पर किसी तरह की तैयारी करने की सूझी ही नहीं.

उन्होंने अच्छा भला साक्षात्कार ले लिया. मेरे लेखन से लेकर लेखन संबंधी कई मुद्दों पर विचार भी जान लिये. समाचार-पत्र में 'आशावादी दृष्टिकोण की पैरवी करती प्रतिबद्ध लेखिका' शीर्षक से साक्षात्कार छपा. तब मुझे लगा कि स्वयं को जो विचार ठीक लगते थे मैं उसी अनुसार लिखती थी, यही मेरी प्रतिबद्धता थी. उस पत्रकार के प्रति मन में स्नेह के भाव आये कि मेरे विचारों को समेट कर कितना सटीक शीर्षक दिया तथा साक्षात्कार भी शालीन और सरल जो मेरे स्वभाव के मुताबिक था.

मैं मात्र स्नातक हूं यह तो मैं पहले भी लिख चुकी हूं. उस पर किसी भी भाषा का साहित्य मेरा विषय नहीं रहा. तब बार-बार लगता मां-शारदे की कृपादृष्टि मुझ पर पूर्ण रूप से है. मैं ही पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर पा रही हूं. एक संतुष्टि अवश्य है कि कभी भी घर-परिवार, घर के सदस्यों को दरकिनार नहीं किया. मेरी सूची में लेखन का दर्जा इसके बाद ही आ पाता था. हो सकता है इस कारण व संकोची स्वभाव के चलते कुछ पीछे रह जाना पड़ा हो. उसके बाद भी मैं जो भी लिख पायी और उससे भी बड़ी बात सबको प्रसन्न और संतुष्ट रख पायी. इसे अपनी उपलब्धि मानती हूं. इस संबंध में एक घटना मैं कभी नहीं भूल सकती. मेरे प्रथम कहानी-संग्रह 'आधुनिक अहिल्या' को पुरस्कार घोषित हुआ. समारोह में चलने के लिए मेरी सास, जो तमिल की जोरदार पैरवी करती थीं, सबसे पहले तैयार हुईं और बोलीं - 'कोई और चले न चले मैं तो जाऊंगी ही.' इस वर्ष मई २००४ में उनके देहांत के बाद तो यह घटना तीव्रता से याद आती है.

ग़लतफ़हमियां पैदा करना मेरा स्वभाव नहीं है सो एक बात साफ़-साफ़ कहना चाहूंगी. मेरे पति भले ही पुलिस महकमे के अफ़सर थे पर हमारा घर एक साधारण मध्यमवर्गीय परिवार की तरह ही चलता था. ढेरों अर्दली या नौकरों की भीड़ कभी नहीं रही. नाश्ता-खाना यहां तक कि चाय भी मैं ही बनाती, उन अर्दलियों या ड्राइवर तक की चाय या नाश्ता आदि मैं ही बनाती थी. ये इसलिए लिखना पड़ रहा है कि खरगोन वाली घटना से पाठकों के मन में एक अलग तरह का विचार बन सकता है. पाठक एक ग़लत विचारधारा के अंतर्गत मुझे आंक सकते हैं. बस एक बात साफ़ मन और दावे के साथ कह सकती हूं कि लेखन में जो भी प्राप्त हुआ वो मात्र लेखन द्वारा. कभी पति के नाम या पद का दुरुपयोग नहीं किया, यहां तक कि उपयोग भी नहीं किया.

४१ डी/डी/एस-३, स्कीम-७८,
अरण्य नगर, ए-बी रोड, इंदौर - ४५२ ०१०

सागर / सीपी

'बदलाव के लिए बहुत बड़ी क्रांति की ज़रूरत होगी'

- डॉ. रामविलास शर्मा

('कथाबिंब' के लिए मुंबई के माटुंगा स्थित, खालसा कॉलेज के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ. त्रिभुवन राय ने डॉ. रामविलास शर्मा से यह साक्षात्कार १९९९ में कई मुलाकातों में लिया था. यथार्थवाद और प्रगतिशील के समर्थक डॉ. शर्मा ने बहुत से अनछुये विषयों पर बातें की थीं. कभी डॉ. राय की अतिव्यस्तता और कभी अस्वस्थता के कारण यह आलेख आकार नहीं ले पाया. प्रस्तुत है भेंटवार्ता की दूसरी किश्त. - संपादक)

२९ अक्तूबर, १९९९, विकासपुरी, नयी दिल्ली.

● **डॉ. साहब के बैठते ही मैंने जिज्ञासा की - भारतीय सौंदर्य बोध और तुलसीदास वाली पुस्तक का काम कहां तक पहुंचा ?**

अभी एक तिहाई पूरी हुई है. इन दिनों तीसरे चैप्टर में फंसा हुआ हूं. नगर सभ्यता और कलाओं के सौंदर्यबोध पर काम अभी चल रहा है. इसके बाद तुलसीदास और उनके सौंदर्यबोध को ले आना है. इसके अंतर्गत भक्ति आंदोलन और कलात्मकता के विकास को रेखांकित करते हुए आगे बढ़ना है. यह भक्त कवियों का अपना वैशिष्ट्य है कि वे पदों के साथ रागों के नाम भी देते चलते हैं. संगीत कला के प्रति यह उनकी रुझान का ही परिचायक है. संगीत और नृत्य कला का जितना उल्लास भक्ति आंदोलन में मिलता है, ऋग्वेद के बाद भारतीय साहित्य में वह नहीं दिखाई देता. इसके पहले कालिदास में इन कालाओं की सांद्रता ज़रूर मिलती है. तुलसीदास ने कालिदास को खूब पढ़ा था. जब वह कहते हैं, 'सब उपमा कवि रहे जुठरी' तब असल में उनके अवचेतन में कालिदास ही बैठे हैं. भक्ति साहित्य में आपको आशा के स्वर मिलेंगे, निराशा के नहीं. तुलसी और सूर इसके प्रमाण हैं.

● **अंग्रेजों के आने के पहले भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक गतिशीलता की स्थिति कैसी थी ?**

अंग्रेजी राज्य से पहले हमारे यहां की वर्ण व्यवस्था में कभी वह जड़ता नहीं थी, जो बाद में दिखाई देती है. मनुस्मृति में वर्ण व्यवस्था को जड़ बनाये रखने का आग्रह ज़रूर है, पर उस काल में उस व्यवस्था के विघटित होने के प्रमाण भी मिलते हैं. प्रश्न उठता है कि यदि भारत में अंग्रेज न आये होते, तो भारत की सामाजिक सांस्कृतिक प्रगति की क्या स्थिति होती. तब क्या सांस्कृतिक नवजागरण संभव था ? यहां एक बात जान लेनी चाहिए. एशियाई, विशेष कर भारत की संस्कृति गतिरुद्ध समाजों की संस्कृति नहीं थी. जब मैं यह कहता हूं तब पुरातन पंथियों और आधुनिकता वादियों की बातों को भूलता नहीं. लेकिन ध्यान रखिए, देशी पुरातनपंथी और विदेशी आधुनिकतावादी समान रूप से अंधे हैं. इसलिए मेरी बात से वे भले ही इत्तिफाक न करें, उनके आग्रहों से भारत की सांस्कृतिक गतिशीलता और उसकी संभावनाओं को नहीं समझ सकते. देशी रूढ़िवादियों के लिए भारतीय संस्कृति ऐसी अखंड इकाई है कि उसमें जातीय संस्कृतियों का अस्तित्व ही मिट जाता है. यहां मजेदार बात यह हुई कि किसी भी धर्म के पहले, दर्शन और साहित्य विकसित होता है. बौद्ध धर्म हमारे यहां का ही नहीं संपूर्ण विश्व का पहला संगठित धर्म है. चारवाक ब्राह्मण था, पर नास्तिक था. इससे हमारे यहां धर्म की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है. ग्रीक में कोई संगठित धर्म नहीं था. इंग्लैंड और फ्रांस में नवजागरण के बाद साहित्य और कलाओं का विकास संगठित धर्म से मुक्ति के बाद संभव होता है.

● **इसका मतलब यह हुआ कि संगठित धर्म कलाओं के विकास में बाधक होता है ?**

कट्टर धर्मावलंबी कला को प्रश्रय नहीं देता. इस्लाम इस दृष्टि से सबसे आगे है. इस्लाम के विरोध के कारण मुगल चित्रकला का विरोध होता है. सूफियों के यहां 'दरगाह' में कव्वाली के बिना उर्स पूरा नहीं होता, पर मस्जिदों में इसके लिए कोई ज़गह नहीं है.

● **आपकी दृष्टि में भारत में कलाओं की सबसे बड़ी विशेषता क्या दीख पड़ती है ?**

यहां की कलाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता है उन पर नृत्य का प्रभाव. यहां कोई ऐसी कला नहीं, जिस पर नृत्य का प्रभाव न दिखाई पड़ता हो. मंदिरों के शिल्प पर नृत्य का प्रभाव भंगिमाओं के रूप में, मुद्राओं के रूप में साफ़-साफ़ देखा जा सकता है. 'डान्स इन इंडियन आर्ट्स एंड लाइफ' में कपिला वात्स्यायन ने इस पर विस्तार से चर्चा की है. योरोप में डान्स होता था, पर चर्च में नहीं. वहां भी नृत्य का अभाव है. चित्र तो बनाये गये, पर उनमें नृत्य की भंगिमाएं नहीं आ पायीं. यह तो हमारी चित्रकला की अपनी विशेषता है. ग्रीक डायना - अपोलो और वीनस के चित्रों में स्थिरता है, गति नहीं. यहां कोई ऐसा शिल्प नहीं जिसमें गतिशीलता न हो और यह गतिशीलता आयी है नृत्य कला से.

● **अकबर के समय देश में जिस सामाजिक संस्कृति का विकास हुआ अगर शाहजहां के बाद शासन की बागडोर औरंगजेब की जगह दारा शिकोह के हाथ में आयी होती तो न उस संस्कृति में दरारें पड़तीं और न ही देश को सांप्रदायिकता के अभिशाप का शिकार होना पड़ता. इस बारे में आप क्या सोचते हैं ?**

यह देश का दुर्भाग्य था कि जितने राजपूतों ने औरंगजेब का समर्थन किया था उतने लोगों ने दारा का समर्थन नहीं किया था. अगर दारा विजयी रहा होता तो देश का इतिहास निश्चय ही कुछ दूसरा होता. दारा ने उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी में करवाया था. फ़ारसी से उनका अनुवाद लैटिन में हुआ. लैटिन अनुवाद पढ़कर सोपेन हावर ने भारतीय मनीषा के संबंध में जो उद्गार व्यक्त किये थे, वे आज भी याद रखने लायक हैं. लेकिन त्रिभुवन ! यह ध्यान रखो कि देश में वर्तमान के लिए औरंगजेब को गाली देने के पहले राजपूतों को दोष देना होगा. औरंगजेब के बाद भी भारत में आर्थिक बदहाली वैसी नहीं थी जैसी अंग्रेजी राज के साथ हुई. भारत का सोना जब बैंक ऑफ इंग्लैंड पहुंचा तो वहां औद्योगिक क्रांति तेज हुई. भारतीय सोने के द्वारा, व्यापार के द्वारा नहीं, लूट के द्वारा प्राप्त सोने से ही इंग्लैंड मालामाल और शक्तिशाली हुआ. आप इसके लिए रजनी पामदत्त की पुस्तक 'इंडिया टुडे' देख सकते हैं. ब्रिटिश राज्य के संस्थापक लॉर्ड क्लाइव ने भी यहां की समृद्धि की प्रशंसा की थी. इंग्लैंड भारत के मुकाबले छोटा देश था. वहां इतने धनी लोग नहीं थे जितने यहां थे.

● **क्या पूंजीवाद की भी कोई प्रगतिशील भूमिका होती है ?**

पूंजीवाद की भी एक प्रगतिशील भूमिका होती है. दिल्ली से बिहार तक खड़ी बोली का जो विकास हुआ वह बहुत कुछ व्यवसायिक पूंजीवाद के ही तहत हुआ. यहां जनपदों की भाषा अवधी, भोजपुरी और मगधी रही. पर शहरों में खड़ी बोली को प्रतिष्ठा मिली. कारण, कारखाने वाला पूंजीवाद शहरों को विकसित करता है. ये शहर मजदूरों और कारीगरों को एक साथ आने और काम करने के लिए प्रेरित करते हैं. व्यापारी व्यापार करता है और इस व्यापार के लिए मजदूरों और कारीगरों से संपर्क और संगठन के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में उसके प्रसार का प्रयत्न करता है. पछाह के व्यापारी पूरब की तरफ पटना के पास तक फैलते चले गये. बिहार में भामुमोजे की मजार के लिए पुजारियों को जो ज़मीन दी गयी वह डीड एक तरफ़ फ़ारसी और खड़ी बोली में लिखी देवनागरी है. अकबर के समय के एक लेख में पटना युनिवर्सिटी में इतिहास के प्रोफेसर हसन अटकर ने इसे हिंदी का सबसे पुराना दस्तावेज़ माना है. पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ मानक भाषा का विकास भी होता है. सामंतवाद में खाने खरचने के लिए ही उत्पादन किया जाता है, लेकिन पूंजीवाद - व्यवसायिक पूंजीवाद में पैदावार अपने लिए ही नहीं वह बिकाऊ माल के लिए की जाती है. योरोप में पूंजीवाद के विकास के चलते जब शेक्सपीयर के युग को आधुनिक युग कहा जा सकता है तो हम तुलसीदास के युग को आधुनिक युग क्यों नहीं कह सकते. व्यापारिक पूंजीवाद में, असल में, हम इंग्लैंड से एक मंजिल आगे थे. अंग्रेजी के आदि कवि चौसर चौदहवीं शताब्दी की देन हैं. और हमारे यहां चौदहवी शताब्दी में विद्यापति सामने आते हैं. अंग्रजों का मध्यकाल अंधकारमय है. वह ग्रीक और रोमन समाज को अपना प्राचीन काल मानते हैं.

अंग्रेजों पर पहले फ्रेंच का आधिपत्य था. हमारे यहां तुर्क आये, अल्लाउद्दीन खिलजी आया. उसकी अपनी अलग बोली थी. उसने राजभाषा के रूप में फ़ारसी को स्वीकार किया. बाबर ने तुर्की में अपनी आत्मकथा लिखी. जितने देशों में इस्लाम फैला उनमें सबसे कम लेखक इस्लाम में थे. इरानियों की भाषा फ़ारसी थी. मुसलमानों की धर्मभाषा अरबी और संस्कृत मानक भाषा के रूप में हमारी समाज-व्यवस्था के अंदर काम कर रही थी. वह शिष्टजनों की भाषा थी. सामंतों, पुरोहितों और थोड़े से पढ़े लिखे लोगों की भाषा थी. संस्कृत के समानांतर अनेक भाषाएं बोली जाती थीं. इसके प्रमाण ऋग्वेद में भी मिलते हैं. खंभे के लिए स्कंध ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है. स्तंभ इसका दूसरा रूप है. ऋग्वेद में एक ही चीज़ के लिए दो रूप कैसे आये ? इनकी ध्वनियों में भी अंतर है. इससे सिद्ध होता है कि ये दो रूप अलग-अलग जनपदों के शब्द हैं. मूल बात यह कि घरेलू बाजार का निर्माण पूंजीवाद की देन है. हाथी दांत की बनी चीज़ें, रेशमी वस्तुएं उच्च वर्ग तक सीमित थीं. घरेलू बाजार के निर्माण से एक तरफ़ गाढ़ा (मोटा) कपड़ा बनता है तो दूसरी तरफ़ रेशमी कपड़े. तुर्कमान गेट पर आगरे के मजदूर या कारखानदारी आज भी मिल जायेंगे. घरेलू बाजार का निर्माण हमारे यहां अंग्रेजों के आने के पहले हुआ था. गोकुलपुरा (आगरा) के कंघी गली के मुसलमान अवधी बोलते हैं. जब एक बार मैंने किसी को टोका कि वह खड़ी बोली या ब्रज क्यों नहीं बोलता तो उसने बताया हम तो रायबरेली के हैं. ज़ाहिर है, कारीगरों का माइग्रेशन मूल शहर के रहने वालों को बहुत अल्पमत में कर देता है. कभी-कभी तो मूलशहर के रहने वाले सभी के सभी बाहर के होते हैं. आपस में बात करने के लिए उन्हें मानक भाषा का व्यवहार करना ही पड़ता है. इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए अकबर के समय से ही खड़ी बोली का विकास हुआ. व्यापारी और कारीगर दोनों ने मिलकर इसके मानक रूप का प्रसार किया. गिरमिटिया मजदूरों ने तो इसे दूर दराज़ के देशों तक फैलाया. अंग्रेजी से हिंदी का फैलाव कम नहीं है, अधिक ही है. उन्होंने साम्राज्यवाद फैलाकर अंग्रेजी का प्रसार किया और हमने अपने मजदूरों के माध्यम से इसे फैलाया. गांधीजी ने हिंदी का मंत्र दक्षिण अफ्रीका में इन्हीं मजदूरों से सीखा.

● **साहित्य की अंतर्वस्तु को पूंजीवाद किस प्रकार प्रभावित करता है ?**

पूंजीवाद से साहित्य की अंतर्वस्तु इस तरह प्रभावित होती है कि लेखक किसी साहित्यिक या सामाजिक आदर्श के लिए काम

नहीं करता. वह पैसा कमाने के लिए काम करता है. १९४७ के पहले भारत की हर भाषा में ऐसे लोग थे जो स्वाधीनता के लक्ष्य से प्रभावित थे. अंग्रेज अंग्रेजी को हमारी भाषा पर लादे हुए हैं, हर भाषा के लोगों के अंदर यह भावना थी. मराठी, बंगला आदि भाषाएं किसी से कमतर नहीं. स्वाधीनता के लिए अपनी भाषा के उद्देश्य के लिए काम करना उस समय के लेखकों की ताकत थी.

● **क्या सामाजिक उद्देश्य के अभाव में सार्थक साहित्य नहीं रचा जा सकता ?**

हां, बिना सामाजिक उद्देश्य के कोई साहित्यकार सार्थक साहित्य की रचना नहीं कर सकता. पहले तो सामाजिक उद्देश्य के साथ अपनी भाषा और साहित्य के प्रति निष्ठा भी होती थी. पुराने लोग हिंदी के लिए लड़ जाते थे. अब तो हिंदी वाले ही हिंदी को गाली दिया करते हैं. तमाम अंग्रेजी के अख़बार हिंदी क्षेत्र को काऊबेल्ट कहते हैं और हिंदी के क्षेत्र की ओर से कोई प्रतिवाद नहीं होता. आत्मसम्मान का जो भाव महाराष्ट्र और बंगाल में है, वह हिंदी क्षेत्र में कहां ? ये लोग न हालत के मूक दर्शक होते हैं और न अंध नकल करते हैं. दूसरे प्रदेश के लोग यह चाहते हैं कि उनका प्रदेश उनके लिए हो, जैसे महाराष्ट्र में महाराष्ट्रीयन बंगाल में बंगाली, तमिलनाडु में तमिलियन का भाव प्रबल है. यह बात हिंदी प्रदेश में नहीं दिखाई देती. यहां तो स्थिति यह है कि जैसे हिंदी प्रदेश हिंदीवालों के लिए है ही नहीं. लखनऊ विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग छोड़ दें तो अधिकांश अध्यापक बाहर के हैं. हमारा हिंदी प्रदेश जैसे उपनिवेश बन गया है.

● **क्या आप इसे हिंदी प्रदेश की उदारता नहीं मानेंगे ?**

उदारता कैसी ? जाति के आधार पर तो सरकारें बनती हैं. बी.एस.पी. और बी.जे.पी., यहां तक कि मुलायम भी जातिवाद को लेकर चलते हैं. पहले जाति की जकड़बंदी से तो निकलिए, फिर उदारता की बात कीजिए.

● **वर्तमान संदर्भों में हिंदी लेखकों की भूमिका से क्या आप संतुष्ट हैं ?**

सभी लेखक तो नहीं, पर अधिकांश लेखक जी हुजूरी करने वाले हैं. आज का औसत हिंदी लेखक पैसा कमाने में लगा हुआ है. निष्ठावान लेखक बहुत कम मिलेंगे. मुख्य धारा पर उनका प्रभाव भी नहीं है. इसमें बदलाव के लिए व्यवस्था में बदलाव ज़रूरी है.

● **उदारीकरण के संबंध में आपका क्या मत है ?**

उदारीकरण के नाम पर असल में आज देश को गिरवी रखा जा रहा है. आप २६ जनवरी १९३० का कांग्रेस का घोषणापत्र देखें तो उसमें गांधीजी साफ़ तौर पर विदेशी पूंजी का विरोध करते हैं. वही कांग्रेस विदेशी पूंजी का आज स्वागत कर रही है. विदेशी पूंजी के सहारे देश को आत्मनिर्भर बनाने का सपना देश के लिए घातक है. इस तरह से आर्थिक, सांस्कृतिक विकास के लिए क्या हम अमरीकी पूंजीवाद की शरण में जाने की तैयारी नहीं कर रहे हैं ? भारत में पूंजीवाद की एक सच्चाई यह भी है कि वह स्वतंत्र नहीं, औरों पर निर्भर है. यहां सारा आर्थिक ताना बाना विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के अधीन है. इससे अगर छुटकारा पाना है तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को माल नहीं बेचने दें. आदमी अगर आत्महत्या करना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है. उदारीकरण, निजीकरण ये बड़े सुंदर शब्द हैं, जिनसे हमारे शोषण को ढंका जाता है. यह कितनी बड़ी विडंबना है कि कच्चा माल खरीदो और तैयार माल बेचो. आज भी पुराना सिलसिला ख़त्म नहीं हुआ है. टीवी में टूथपेस्ट से लेकर मोटरगाड़ियों तक की विदेशी चीज़ों के विज्ञापन क्या इस ओर संकेत नहीं करते?

● **क्या विदेशी पूंजी और विदेशी भाषा के चलते ही हिंदी अपने प्राप्य से वंचित रही है ?**

मेरा तो यह दृढ़ मत है कि जब तक विदेशी पूंजी का प्रभाव रहेगा, हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती. बैंकों में जो काम होते हैं, वे अंग्रेजी में होते हैं. पिछले तीस साल में स्थिति यह बनी है कि अब लोग घरों में अंग्रेजी बोलते हैं. देश में एक वर्ग ऐसा तैयार हुआ है, जिसकी घरेलू भाषा अंग्रेजी हो गयी है.

● **इस स्थिति में आखिर बदलाव कैसे आयेगा ?**

बदलाव के लिए बहुत बड़ी क्रांति की ज़रूरत होगी. दुनिया में आज तक कोई ऐसी क्रांति नहीं हुई है, जिसका माध्यम विदेशी भाषा हो. रूस पिछड़ा हुआ देश था. जर्मन और फ्रेंच के बावजूद लेनिन ने अपना अख़बार रूसी में निकाला. वियतनाम के हो ची मिन्ह ने फ्रेंच चाहते हुए भी अपनी भाषा में काम किया. पांच हजार वर्ष पुरानी वियतनामी सभ्यता अगर अमरीकी बर्बरता का मुकाबला कर सकी तो इसलिए कि उसे अपनी भाषा, संस्कृति का पूरा अहसास था. वियतनाम की तरह कोरिया की क्रांति में भी उसकी अपनी भाषाई अस्मिता का कम योगदान नहीं.

दुनिया में कोई भी घरेलू बाजार अपनी भाषा के बिना विकसित नहीं हो सकता. यह भी ध्यान रखें कि अपनी भाषा के बिना जनता को भी गोलबंद नहीं किया जा सकता. गोखले अंग्रेजी के लिए विख्यात थे, पर दक्षिण अफ्रीका में उनसे हिंदी या मराठी में बोलने का आग्रह किये जाने पर वे मराठी में बोले और गांधीजी ने हिंदी में अनुवाद किया. १९१४ में वायसराय द्वारा बुलाये जाने पर गांधीजी ने दो शर्तें रखी थीं. एक, यह कि मैं साधारण लिबास में आऊंगा, दूसरी यह कि मैं हिंदी में बोलूंगा. गांधीजी ने हिंदी और भारतीय भाषाओं के लिए जैसा संघर्ष किया, वैसा ही संघर्ष आज भी किसी को करना होगा.

● **अक्सर लोग कहते हैं, अंग्रेजी छोड़ने पर विकास की गति में हम पिछड़ जायेंगे ? संभवतः इसलिए कुछ राज्यों में आज प्राथमिक स्तर से ही अंग्रेजी सिखाने पर बल दिया जा रहा है. तो क्या विकास का मंत्र सचमुच अंग्रेजी में ही निहित है ?**

इस तरह की सोच और कुछ नहीं, हमारे दीवालियापन

की ही सूचक है. जापान में अंग्रेजी नहीं थी, पर जापानियों ने अंग्रेजों को लोहे के चने चबवा दिये थे. उन्होंने १९०५ में रूस को परास्त किया था. १९४५ में तो जापान बर्बाद हो चुका था और आज वह दुनिया के बड़े से बड़े विकसित देशों को पछाड़ता नज़र आता है. क्या यह अंग्रेजी के सहारे से हुआ है ? बिल्कुल नहीं. यह उनकी अपनी भाषा के बलबूते और श्रमिकों की निष्ठा से संभव हुआ है. अंग्रेज न आये होते तो हम पिछड़े हुए होते, इस तरह की सोच गुलाम मानसिकता को ही उजागर करती है. अकबर और तुलसीदास का समय शेक्सपीयर और मिल्टन से किसी तरह कमतर नहीं था. आर्थिक विकास की दृष्टि से अकबर का समय काफी उन्नत था. इसका सबसे बड़ा सबूत यही है कि आगरा उस समय एशिया का सबसे बड़ा मार्केट था. रेडफोर्ट से लेकर सिकंदरा तक ग्राहकों की भीड़ लगी रहती थी. इसके वृतांत आज भी प्राप्त हैं. आगरा आज से अधिक शानदार हालत में था. यहां एक जगह अंग्रेज, राजपूत और उनके नीचे एक धोबिन रहती थी. इसका जो वृतांत जार्ज ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे के पहले खंड में दिया है वह अन्य दृष्टियों के साथ हिंदी के प्रसार की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है.

● **आप निजीकरण का विरोध करते हैं. परंतु यहां यूनियन बाजी भी तो प्रगति के मार्ग का रोड़ा है. यूनियन के बल पर जब लोग काम ही न करना चाहें तो विकास की गति में ठहराव तो आयेगा ही. इस स्थिति पर आप क्या सोचते हैं ?**

खोट केवल व्यक्तियों में नहीं, संस्थाओं में भी होती है. हम स्टेट कंप्टीशन से अलग को-ऑपरेटिव रिवल्यूशन चाहते हैं. को-ऑपरेटिव बेसिस पर अगर सफलता नहीं मिलती तो इसका ख़ामियाजा श्रमिक वर्ग को भी भुगतना पड़ेगा. इसकी सफलता के लिए मजदूरों को भी कुशलतापूर्वक सहयोग देना होगा. सब कुछ के लिए सरकार के भरोसे नहीं रहना चाहिए. १९४५ में जापान कहां था ? पर आर्थिक धरातल पर उसे सुपर पॉवर अगर किसी ने बनाया तो वहां के मजदूरों ने.

निजीकरण समाज के लिए एक खतरा है. महंगी होती शिक्षा इसी की देन है. देश की साधारण गरीब जनता को ही इसका दुष्परिणाम भुगतना होगा.

● **परमाणु विस्फोट पर लगे अमेरिकी प्रतिबंधों में दी गयी ढील पर आपकी अपनी प्रतिक्रिया है ?**

यह आपके ऊपर अमेरिका ने कोई विशेष कृपा नहीं की है. याद रखिए, अमेरिकी इशारे के बिना मुशर्रफ में यह हिम्मत ही नहीं होती के पाकिस्तान में वह फौजी तंत्र कायम कर पाते. बिना अमेरिकी सहायता के वह टिक ही नहीं सकती. हम लोगों को अमेरिकी कृपा का भ्रम नहीं पालना चाहिए. दुनिया में डिक्टेटरशिप को जितना बढ़ावा अमरीका देता है, उतना कोई दूसरा देश नहीं. करगिल के संदर्भ में जॉर्ज फर्नांडिस ने एक बात बहुत सही कही थी कि कारगिल आक्रमण के लिए नवाज शरीफ़ नहीं, वहां की आर्मी जिम्मेदार है.

● **आज की परिस्थितियों में बुद्धिजीवियों का क्या कर्तव्य है ?**

अपनी जातीय संस्कृति की रक्षा करना हर बुद्धिजीवी का कर्तव्य है. परंतु जब हमारे बुद्धिजीवी पश्चिम के हर नये नारे को ललचायी नज़र से देख रहे हों तब उनसे कैसे और कहां तक आशा की जा सकती है. ये बुद्धिजीवी तब महाभारत में वर्णित, उन गिद्धों के सदृश्य नज़र आने लगते हैं, जो कुरूक्षेत्र में मांस के लिए ललचायी नज़रों से उड़ते रहते थे. सच्चा बुद्धिजीवी अपने कर्तव्य का पालन करता है. पर हमारे यहां तो ज्यादातर छद्म बुद्धिजीवी हैं. बुद्धिजीवी बुद्धि को बेचता है, वह मजदूर और शोषित होता है. इसलिए विद्रोह भी वही करता है. वह ज्ञान विज्ञान से जुड़ा होता है, वह शोषण करनेवाली ताकतों को पहचानता है. वह उनके खिलाफ़ विद्रोह की चिनगारी को सुलगाने का काम करता है. यह एक तथ्य है कि मजदूरों के बिना पूंजीपति मुनाफ़ा नहीं कमा सकते. लेखक यदि सच्चा बुद्धिजीवी है तो उसे संगठित होकर इसका विरोध करना चाहिए. हमारे यहां यानी हिंदी प्रदेश के बुद्धिजीवियों की तुलना में महाराष्ट्र, तमिलनाडु और बंगाल के बुद्धिजीवी अपनी भाषा और साहित्य के प्रति अधिक सचेत हैं. हमारा हिंदी प्रदेश आर्थिक सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा तो है ही, जितने ठग और बेईमान यहां हैं उतने पूरे भारत में नहीं हैं. 'बेचहिं वेद धर्म दुहि लेहीं' की उक्ति हमारे प्रदेश के बुद्धिजीवियों के लिए बिल्कुल सही है. आज की परिस्थिति में जागरूक होकर बहुत कठिन प्रयत्न करने पर ही हालत बदलेगी. चाहे फ्रांस हो, चाहे अमेरिका व्यवस्था का विरोध करने वाले हर जगह मौजूद हैं. परंतु हमारे लिए दुर्भाग्य की बात यह है कि यहां का बुद्धिजीवी जो पतनशील प्रवृत्ति होती है उसे अपनाता है, प्रगतिशील प्रवृत्ति का वह सिर्फ़ भौंपू होता है. पश्चिम की हर चीज़ का अंध विरोध ग़लत है. लेकिन हमारा स्वीकार भी तो सार्थक होना चाहिए. उदाहरण के लिए संगीत को ले लें. पश्चिम का पॉप संगीत हमारे यहां फिल्मों, आकाशवाणी और दूरदर्शन के जरिये खूब प्रचारित हो रहा है. लेकिन सवाल है, उससे हमारे जीवन में, हमारे समाज और संस्कृति में क्या कुछ धनात्मक और सार्थक भी जुड़ रहा है. कहने के लिए हम लोग स्वाधीन हैं, पर पहले से भी अधिक पराधीन हैं. देश के बड़े पूंजीपतियों की नकेल भी विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में जाती दिख रही है. भूमंडलीकरण का सिलसिला, वर्ल्ड बैंक के भयदोहन का जरिया बनता जा रहा है.

● **हिंदी पुस्तकों की बढ़ती कीमतों की ओर जब डॉक्टर साहब का ध्यान आकृष्ट किया तब उन्होंने कहना शुरू किया -**

प्रकाशक कहते हैं - मूल्य इतना न रखें तो घूस कैसे दें. आगरा के प्रकाशकों के सम्मेलन में यह बात मैंने १९६० के आस-पास रखी थी. आज हिंदी पुस्तकों की अप्रत्याशित रूप से बढ़ती कीमतों के संदर्भ में एक बात यह ध्यान में रखिए कि हिंदी क्षेत्र में व्यापारी सबसे बड़े ठग हैं. वाणी प्रकाशन ने तो हद कर दी है.

● फिर भी आप अपनी पुस्तकों को वाणी प्रकाशन को ही क्यों देते हैं ?

हम क्या कर सकते हैं ? अगर ये छापें और बेचें नहीं तो हमारे लिखने का मतलब क्या होगा ? इस तरह तो हम लिख ही नहीं पायेंगे.

● आखिर प्रकाशकों की इस अराजकता का समाधान क्या है ?

इसका समाधान एक ही है, वह यह कि इस पूंजीवादी व्यवस्था को बदल दो. अगर यह नहीं कर सकें तो सहकारी संस्था चलाएं. लेखक और लेखक मिलकर इस काम को संभालें. पर लेखक तो हमारे यहां आपस में लड़ते हैं. जैसे अपराधी, राजनीतिज्ञ और नौकरशाह इनकी मिलीभगत देश को लूट रही है वैसे ही प्रकाशक हिंदी के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं.

(विदा लेने के पहले मैंने उनके अध्ययन कक्ष और निजी पुस्तकालय को देखने की इच्छा व्यक्त की. प्रसन्नतापूर्वक वे अपने अध्ययन कक्ष में ले गये. चारो ओर पुस्तकों से भरी आलमारियों और कुछ खुले रैक्स देखकर मैं इस निर्भीक आधुनिक चिंतक ऋषि के अध्ययन एवं साधना की गहराइयों में गोते लगाता रहा. अब तक पौने दस बज चुके थे. अंत में पुनः अगली बैठक के लिए फरवरी में आने की अनुमति लेकर लौटने के लिए मुड़ा. बाहर दरवाज़े तक डॉक्टर साहब साथ-साथ आये. तब क्या पता था कि यही उनके अंतिम दर्शन होंगे. दुर्भाग्य से फरवरी का कार्यक्रम रद्द करना पड़ा और इससे पहले की प्रस्तावित तीसरी बैठक के लिए निकल पाता कि जून में उनके महाप्रयाण का हृदय विदारक समाचार आ गया.....)

डॉ. त्रिभुवन नाथ राय

२-सी/६ सेक्सरिया कंपाउन्ड, सखाराम लांजेकर मार्ग, परेल, मुंबई ४०० ०१२

लघुकथाएं

प्रार्थना

✍ माला वर्मा

नित्य की तरह मैं सुबह टहलने निकला था. कई तरह की बातें सोचता हुआ मैं तेजी से आगे बढ़ रहा था, तभी मेरे करीब कूड़ा उठाने वाला ट्रक खड़ा हो गया. मैंने सोचा ट्रक वाले को रास्ता पूछना है. लेकिन नहीं....उसने अपनी कमीज़ के ऊपर वाली ज़ेब से एक लगभग पांच वर्ष के लड़के की तस्वीर निकाली. लड़का बड़ा ही प्यारा था. मैंने पूछा, 'क्या बात है, क्या चाहिए ?'

'यह मेरा पोता है तुषार. इसकी तबियत बहुत ख़राब है. अस्पताल में तुषार ज़ीवन मृत्यु से संघर्ष कर रहा है...'. ड्राइवर ने कातर स्वर में कहा.

मैंने सोचा, उसने भूमिका तो पहले ही गढ़ ली अब सीधे रुपयों की बात करेगा. या तो वह झूठ बोल रहा है या अगर सच भी है तो अब अस्पताल का बिल दिखायेगा. मेरा हाथ अपने पर्स पर चला गया, 'कुछ मदद चाहिए ?'

'नहीं...नहीं, मुझे रुपयों की ज़रूरत नहीं. मैं सबसे यही आग्रह कर रहा हूं कि वे मेरे बच्चे के लिए भगवान से प्रार्थना करें. वह छोटा मासूम, स्वस्थ होकर अपने घर लौट आये क्या इसके लिए आप प्रार्थना करेंगे ?'

मैंने की.... एक दिन नहीं लगातार, कई दिनों तक ईश्वर से प्रार्थना. मैं नहीं कह सकता उधर क्या असर हुआ लेकिन मुझे महसूस हो रहा था मेरे अपने जीवन की कई समस्याएं दूर होने लगी थीं.

हाजीनगर, २४ उत्तर परगना, प. बंगाल-७४३ १३५

नया चैनल

✍ राजेंद्र परदेसी

टी. वी. पर अर्धनग्न दृश्यों को देखकर बच्चे का बालमन बार-बार मां से प्रश्न करता कि मम्मी ! ये लोग इतने कम कपड़े क्यों पहने हैं, फैशन के अंधे दौर की सच्चाई को मां अपने बेटे को किस प्रकार समझाये सोच नहीं पा रही थी. इसलिए एक सरल उपाय ढूंढ़ लिया. बेटा जब भी इस तरह का प्रश्न उठाता, मां सहजता से उत्तर देती - बेटा, ये लोग ग़रीब हैं, उनके पास अधिक पैसा नहीं है, इसीलिए ठीक से कपड़े नहीं ख़रीद पाते.

मां सच बोलती है, सोचकर बेटा चुप हो गया था. तभी अचानक एक दिन एक विदेशी चैनल का बटन उससे दब गया. दृश्य देखकर चौंका, तुरंत मां के पास आकर बोला - मम्मी, मम्मी!

- क्या है बेटा ?

- देखो टी. वी. पर एक नया चैनल शुरू हुआ.

- कैसे बेटा ?

- इसके सभी लोग केवल चड्ढ़ी पहने हैं, और कुछ नहीं!

दृश्य देख मां चौंकी पर बच्चे को कैसे समझाये कि यह क्या है.... उसे उत्तर सूझ नहीं रहा था इसीलिए उसके हाथ चैनल बदलने के लिए रिमोट की तरफ बढ़ ही रहे थे कि बेटा, पुनः बोल पड़ा - लगता है, यह नया चैनल है, इस चैनल के लोग बहुत ही ग़रीब हैं. इसीलिए इतने कम कपड़े पहने हैं.

बेटा कुछ और कहता इसके पहले मां चैनल बदल कर बोली - यह देखो, इस पर अच्छा कार्टून आ रहा है.

वह मां द्वारा लगाये गये चैनल को देखने में मस्त हो गया.

बी-१११८, इंदिरा नगर, लखनऊ-२२६ ०१६

वातायन

मुस्लिम समाज के बंद दरवाज़े

- डॉ. तारिक अस्लम 'तस्नीम'

इस मुद्दे पर लंबे अर्से से विवादास्पद बयान आते रहे हैं कि साहित्य लेखन साहित्य के लिए होना चाहिए अथवा आम जन जीवन के कटु एवं कठोर सत्य को उद्घाटित करने के लिए. ग़ौरतलब है कि समाज में विशेषकर भारतीय मुस्लिम समाज में ऐसे मुसलमानों की तादाद कम नहीं आंकी जायेगी, जो मज़हबी नज़रिये से समाज के मिजाज़ में कोई परिवर्तन नहीं चाहते, वरन मुस्लिम समाज की स्थिति को नये ज़माने के तमाम प्रभावों एवं दुष्परिणामों से वंचित होने का दावा करते हैं. उनके लिए समाज टाट के पर्दे के पीछे के हालात में भी संतोषप्रद प्रतीत होता है.

इस ख़ाम ख़्याली का नतीजा है कि कभी सलमान रुश्दी, कभी तसलीमा नसरीन तो कभी मुझ जैसे उन्मुक्त विचारधारा के प्रवक्ता होने के नाते लानत-मलामत के क़ाबिल समझ लिये जाते हैं. चूंकि इस इक्कीसवीं शताब्दी में भी भारतीय मुस्लिम समाज ने अपने लिए "प्रगतिशील" और "आधुनिक" शब्द प्रतिबंधित समझ रखे हैं. इसलिए, पटना से ही प्रकाशित मासिक "अभिनव प्रत्यक्ष" के अप्रैल, ०४ अंक में प्रकाशित एक लघु कथा पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए एक पाठक और तथाकथित नेक सलाहकार ने यह लिखित रूप से शिकायत करना धर्म समझा है कि आपकी लघुकथा "चाहत" (कृपया पृष्ठ - ३८ देखें) पढ़ी. अपनी पचास साल की उम्र में मैंने आज तक ऐसा कोई इमाम नहीं देखा. यह कहानी आपकी निकृष्ट यौन विकृत मानसिकता का आईना है. इस तरह की कहानियों से ग़ैर मुस्लिमों में एक ग़लत तस्वीर पेश होती है जो मुस्लिम समुदाय में नहीं है. आपकी इस कहानी की फोटो कॉपी विभिन्न मुस्लिम संगठनों को भेज रहा हूं. और मुझसे अपेक्षा की गयी है कि भविष्य में मैं ऐसी रचनाएं नहीं लिखूं. क्योंकि इसी प्रकार की रचनाओं के कारण आज तक आप अपना सम्मानजनक स्थान नहीं बना सके हैं.

बहरहाल, मैं अपने इस नेक सलाहकार से यह जानना चाहता हूं कि उसने पत्र पटना से लिखा तो फिर पता जिला भोजपुर का क्यों अंकित किया है ? अलावा इसके अपने इस नेक सलाहकार से मैं जानना चाहता हूं कि आप किस भारतीय मुसलमान की बातें कर रहे हैं. उस सऊदी अरब के शाह फ़हद की, जिसकी विश्व प्रसिद्ध, अंग्रेजी टाइम्स पत्रिका में एक नंगी डांसर के साथ बरसों पहले तस्वीर पहले पन्ने पर छप चुकी है. उन अय्याश और जिस्मख़ोर अरबियों की जो मौज मस्ती के लिए मुंबई, कोलकाता और बैंगलोर जैसे महानगरों में आते हैं. यहां से शादी या नौकरानी के बहाने कमसिन बालाओं को अपने मुल्क ले जाने में कामयाब होते हैं, फिर उनके साथ चौदह या चौबीस साल पहले जो अमानवीय व्यवहार करते थे, वो क़िस्से दुहराते हैं. उनसे रंडी और लौंडी का शौक से पेशा करवाते हैं और मुस्लिम युवतियों को यार दोस्तों को तोहफ़े में पेश करते हैं ? ये लोग ही हालिया बरसों तक मासूम और कमसिन बच्चों को रेगिस्तानी ऊंट की पीठ पर बांधकर दौड़ाते थे. बच्चों की चीख़ पुकार पर ठहाके लगाते थे और उस वक़्त तक क्रूरता प्रदर्शित करते थे, जब तक कि बच्चे बेमौत मर कर पीठ पर झूल नहीं जाते थे.

ये भारतीय कट्टरपंथी और असहिष्णु मुसलमान किन मुसलमानों की बात करते हैं. उनकी जो एक दूसरे के बारे में मस्जिदों में पोस्टर लगाते हैं कि "मुसलमानों वहाबियों से बचो ?" क्या ये मुसलमान नहीं ? ये कौन लोग हैं जो क़ब्रों पर चादरें चढ़वाते हैं. चढ़ावे वसूलते हैं, नज़राने लेते हैं ? तावीज़ें बेचते हैं ? क़ुरआनी आयतों का धंधा करते हैं. क़ब्रों पर सजदे करवाते हैं. अंजान शहीदों और सड़क किनारे मज़ारों पर बैठकर भीख मांगते हैं. एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय को फूटी आंख नहीं सुहाता. सुन्नी मस्जिदों में नमाज़ का जो निर्धारित समय है उसे शिया संप्रदाय वाले स्वीकार नहीं करते. सुन्नी संप्रदाय के लोग शियाओं की मस्जिदों में नमाज़ें नहीं अदा कर सकते.

किन मुसलमानों की पहचान की बातें करते हैं आप ? उन लोगों की जो मस्जिद में एक पंक्ति में नमाज़ के लिए क़तारबद्ध भले हो जायें लेकिन मस्जिद की सीढ़ियां उतरते ही "सवर्ण और पिछड़ी" जातियों में बदल जाते हैं. इस मुल्क में कमोबेश पच्चीस करोड़ से अधिक मुसलमान हैं किंतु आज भी उनका कोई सर्व-मान्य राष्ट्रीय नेता नहीं है. जो लोग नेता होने का दावा करते हैं वे मुसलमानों को अपने-अपने फ़ायदे के हिसाब से "ग़ुलामों की तरह ख़रीदते-बेचते हैं". जब देश की उच्चस्तरीय इस्लामी धार्मिक संस्थाएं भाजपा को मत देने को प्रोत्साहित करती हैं और उनके पक्ष में आवाज़ें बुलंद करती हैं तो मुसलमान सोच में ग़र्क़ होता है कि आख़िर ईमानफ़रोश कौन है, आम मुसलमान या धार्मिक नेता और तथाकथित रहनुमा ? भाजपा की हार के ये सबसे बड़े सबब रहे हैं.

मैं ऐसे देश के तमाम मुसलमानों से पूछना चाहता हूं कि इस्लाम में आस्था के बावजूद मुसलमान सारी दुनिया में आपस में क्यों मर कट रहे हैं ? सद्दाम हुसैन एक सियासी गुनहगार हो सकते हैं. ऐसे गुनहगारों की अपने देश में भी कोई कमी नहीं, किंतु इस एक बहाने जैविक और रासायनिक हथियारों का हौवा खड़ाकर जिन देशों ने इराक़ी जनता के सपनों को मटियामेट किया ? उनके ख़िलाफ़ मुसलमान क्या एकजुटता प्रदर्शित कर पाये हैं, यदि नहीं तो क्यों नहीं ? इस देश के कुछ जेहादी संगठन और पार्टियां "जेहाद" के नाम पर अपने क़ौम के लोगों का ही

लघुकथा

चाहत

✍ डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम'

वे कॉलोनी की मस्जिद के पेशइमाम थे. सारे लोग उनके पीछे पांचों वक़्त की नमाज़ अदा किया करते थे. हमवे मामूल आज के दिन मेरे घर ही उनका नाश्ता-खाना तय था.

जब वे आये, टी.वी. पर "आजतक" समाचार-चैनल पर ख़बरों का सिलसिला जारी था. कुछ पल वे सब कुछ देखते रहे, फिर पास ही एक छोटे से टेबिल पर पड़े रिमोट को उठा लिया. अब वे चैनल बदल रहे थे. एक के बाद एक जैसे मेट्रो, सब टी.वी., ई-टी.वी. सेट मैक्स, डिस्कवरी, सोनी, स्टार प्लस, स्टार मूवीज़, जी.टीवी., सहारा, आस्था, संस्कार, नेशनल ज्योग्राफिक फिर...अचानक उनकी उंगलियां जैसे हरकत करना भूल गयीं.

मौलाना ने अपनी मुकद्दस दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए पूछा, "आजकल टीवी पर यह सब भी दिखता है क्या ?"

"बिल्कुल ! चौबीसों घंटे. इस चैनल की यह ख़ासियत है. हमेशा दुनिया भर के फैशन डिजाइनर और फैशन के नाम पर मॉडल्स के जिस्मों की खुली नुमाईश. जैसे आप अभी देख रहे हैं ?"

"हूं ! बड़ा गज़ब का चैनल है." मौलाना की जुबान से यह बात निकली. किंतु वह चैनल बदलने की जुर्रत नहीं कर सके. शायद मस्जिद से बाहर निकलने के बाद खुदा का डर भी दिल से निकल चुका था.

('अभिनव प्रत्यक्ष' से साभार)

खून बहाने में जुटी हैं. क्या वे संगठन सचमुच जेहाद का अर्थ समझते हैं ? इस्लामी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार, "आम लोग चाहे जिस धर्म के हों और अपनी पसंद का अक़ीदा रखें, उनसे लड़ना ज़रूरी नहीं, बल्कि उनसे हुस्ने सलूक कीजिए कि उनके दिल इस्लाम की तरफ़ झुक जायें. असल लड़ाई और युद्ध उन से है जो अहले ईमान को उनके अक़ीदे के सबब वतन से बे-वतन करते हैं. उनके साथ मारकाट करते हैं तो अहले ईमान को इजाज़त है कि ऐसे ज़ालिमों से जंग करें, यहां तक कि उनका ज़ोर टूट जाये." *(६०-अल्लमुतहिन्ना - आयत : ८)*

इस देश के चाहे जिस शहर में आतंकवादी कार्रवाइयां हो रही हैं ? क्या उसे धार्मिक दृष्टिकोण से उचित क़रार दिया जा सकता है ? इन सवालों के जवाब कौन देगा ? हमारे आलोचक पाठक का कथन है कि उन्होंने अपनी पचास साल की ज़िंदगी में आज तक ऐसा कोई ईमाम नहीं देखा जिसका "चाहत" शीर्षक से लिखित लघुकथा में ज़िक्र किया गया है ? किंतु मैंने तो ऐसे पेश इमाम को झेला है जो मस्जिद में बच्चों को हदीस और क़ुरआन की तालीम देते हुए, उन्हें गोद में बिठाकर जुनूनी हरकतें करता था. ऐसे ख़ानकाह के पीर का सामना किया है जो हिरन की छाल पर लिखी तावीज़ की क़ीमत पचास रुपये वसूल करता है और वाश बेसिन में कुत्ते की तरह पैर डालकर वज़ू करता है ताकि नमाज़ अदा कर सके. ऐसे पेश इमाम भी मिले हैं जो अपनी ग़रीबी का रोना रोकर कॉलोनियों के अमीरों से लाखों रुपये इकट्ठे करते हुए, रफ़ूचक्कर हो जाता है. "कुएं में मेंढक" सी ज़िंदगी जीने वाले के सामने वही दुनिया होती है. इसका अर्थ क़तई नहीं होता है कि दुनिया इतनी छोटी है और जो उसने देखा, सुना या पढ़ा नहीं तो उस सबका अस्तित्व ही नहीं है.

दरअसल, यह कटु सच्चाई है कि भारतीय मुस्लिम समाज ने अपने दरवाज़े बंद कर रखे हैं. अक़्ल की खिड़कियों को भी खुला रखना मुनासिब नहीं समझा है. वे जो जानते हैं, उतना ही सच होता है. मुसलमानों की अशिक्षा और जहालत का नतीजा है कि इस मुल्क में एक बड़ी आबादी होने के बावजूद अपनी पहचान के लिए वे संघर्षरत हैं. ऐसे मुसलमानों को मदरसों और मकतबों में कितनी आतंकवादी गतिविधियों का प्रशिक्षण दिया जा रहा है ? यह अनुसंधान का विषय हो सकता है किंतु मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूं कि ऐसे शिक्षण संस्थानों के सर्वेसर्वा कहे जाने वाले लोगों ने पूरी क़ौम को गुमराह किया है. मुसलमान को मुसलमान भी नहीं रहने दिया है. उसके ईमान और यक़ीन को अपने फ़ायदे के लिए सदैव इस्तेमाल किया है.

देशभर में सियासी रहनुमाओं से कहीं सौ गुना अधिक तादाद धार्मिक नेताओं की है जो स्वयंभू मसीहा कहलाते हैं. ये मदरसों पर लगाये जा रहे अनेक प्रकार के आरोपों से कहां तक सहमत हैं ? ये बात कितनी सत्य है ? इसका प्रतिउत्तर कौन देगा ? जबकि मेरा मानना है कि मदरसों और मकतबों में तालीम हासिल करने वाले बच्चे आतंकवादी तो क्या असहिष्णु और आक्रामक हो ही नहीं सकते हैं. चूंकि मदरसे की कठोर शिक्षा मुझे भी दी गयी है, किंतु मैं नहीं समझता यहां कोई विशेष शिक्षण प्रशिक्षण दिया जाता है जो इस्लाम धर्म की मान्यताओं के विपरीत क़रार दिया जा सके. भारतीय मुस्लिम समाज में बढ़ती अशिक्षा, बेराज़गारी, अधार्मिक क्रिया कलापों से एक धार्मिक वर्ग रोकने का प्रयास करता है तो दूसरा वर्ग अपनी रोज़ी-रोटी और कमाई के तौर पर व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है. ऐसे लोग आम अनपढ़ और गंवार मुसलमानों पर अपने "पांडित्य" से प्रभाव बनाये रखना चाहते हैं.

अरब के जिस विस्तृत भू भाग पर अनेक क़बीले एक दूसरे पर आधिपत्य स्थापित करने में दिन रात ख़ून ख़राबा मचाये रखते थे. उन्हें एकजुट करते हुए हज़रत इब्राहिम अलेहिस्सलाम ने पूरी मनुष्य जाति का "मुस्लिम" नामकरण किया. क़ुरआन नामक धार्मिक ग्रंथ में भी वे मुस्लिम क़रार दिये गये. किंतु आज की वर्तमान स्थिति क्या है ? तथाकथित मुसलमान अनेक वर्गों, जातियों, उप जातियों, क्षेत्रीय समुदायों और संगठनों में विभाजित हैं. यह उचित नहीं है. (संदर्भ : २२-अलहज-आयत : २-७८)

देश के अनेक हिस्सों में संगठित हो रहे अनेक संगठनों ने महिलाओं को नक़ाब में रहने के आदेश पर अमल करने का हुक्म दिया है. उनमें ख़ौफ़ पैदा करने के लिए उनके ऊपर तेज़ाब भी फेंका गया है. मगर ये लोग मुसलमानों में घुस आयी उन बुराइयों

को दूर करने की क्यों नहीं सोचते, जिसके अनुसार मुसलमान मज़ारों और दरगाहों पर मुर्दों की इबादत करते हैं. उससे अपनी मुरादें पूरी होने की अपेक्षाएं रखते हैं. एक ईश्वर की जात के साथ कभी पैग़ंबर, कभी वलीउल्लाह, कभी पीर तो कभी फ़कीर को खड़ा करते हैं. मुस्लिम समाज में फिरक़ापरस्ती और गिरोहबंदी की स्थिति यह है कि भारतीय मुस्लिम हनफ़ी, शाफ़ई, हंबली, मालकी, अहले हदीस, शिया, सुन्नी, देवबंदी, बरेलवी आदि की अलग-अलग समस्याओं और स्वार्थों में फंसे हुए हैं. जबकि सबके सब अपने को एक ईश्वर, एक पैग़ंबर और एक किताब (क़ुरआन) पर मुकम्मल यक़ीन का दावा करते हैं. फिर यह विरोधाभास क्यों? किसके लिए ? इनमें कौन मुसलमान नहीं है और कैसे ?

इन सवालों के जवाब कौन देगा, इस देश की सरकारें या बहुसंख्यक जाति ? ये स्वयं एक दूसरे को मुसलमान नहीं मानते. यदि ऐसा नहीं होता तो फिर विचारधारा में मतभेद की गुंजाइश कहां बचती है. क़ुरानी आयतों के मद्देनज़र अपनी बहुचर्चित पुस्तक "तफ़्सीरी ख़जाना" में आलोचक हजरत मौलाना अब्दुल करीम पारिख ने पृष्ठ संख्या २९६ पर २३-अलमोमेनून, आयत ५२-५३ के सारांश में साफ़तौर पर लिखा है कि "मज़हबी चौधरी, पूंजीपति महाजन, गद्दीनशीं मज़ाविर, बे-लगाम बादशाह, अमीर उमरा और शाही दरबार के ख़ुशामदी अफ़सरान इन सबकी मिली भगत और कहीं ऐसी मारामारी से धार्मिकता की ऐसी माजून कंपाउंड तैयार की गयी, जो इंसानी आबादी के किसी इलाके में लाभप्रद नहीं हो सकती थी. इस तरह टोलीबाज़ी और तफ़रका वाला मज़हब हर जगह अलग-अलग हो गया और प्रत्येक मज़हब का आदमी अपने ही ख़्यालात में मस्त रहा और दूसरे किसी की बात "हक़" हो तब भी मानने से इंकार किया और उम्मत टुकड़े-टुकड़े हो गयी. इसके लिए कौन जवाबदेह है ?"

दरअसल, इस मुल्क में मुसलमानों की जितनी समस्याएं प्रकट रूप में दिख रही हैं इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं. ये लोग अपना रास्ता भूल चुके हैं और बस एक दूसरे की टांग खिंचाई में सफलता देख रहे हैं, यही कारण है कि पूरे विश्व में इनकी गदहे की तरह पिटाई हो रही है. अभी ये और मारे पीटे जायेंगे. उस वक़्त तक जब तक पूरी तौर पर अपनी "ख़ुदाई" और "मसीहाई" का नशा नहीं उतरता है. मेरी समझ से पूरी क़ौम को पहले अपने आपसे प्रश्न करना चाहिए कि वे धर्म के किस स्वरूप को मानते हैं ? तब न केवल आतंकवाद की समस्या से निबटा जा सकेगा बल्कि अनेक असंभव सी लगती समस्याएं भी सुलझ जायेंगी. मगर ये मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग को, लेखकों को एवं पत्रकारों तथा कलाकारों को धमकियों से डराने से बाज आयें तब न ऐसा संभव है. क्योंकि केवल सच उतना ही नहीं है जो धार्मिक या आतंकवादी नेता कहते हैं बल्कि सच वह भी है जो क़लमें लिखती हैं.

६/२, हारून नगर, फुलवारी शरीफ़,
पटना (बिहार) - ८०१ ५०५

ग़ज़लें

✍ गोपाल कृष्ण सक्सेना 'पंकज'

चांद तारों पर

चांद तारों पर बड़ा आसान है ग़ज़लें सुनाना ।
तुम नया मतला ग़ज़ल का धूल-मिट्टी से उठना ।।
अर्थ पूजा का हमें सिखला रहे हैं वे पुजारी ।
'स्वास्तिक' का चिन्ह भी आता नहीं जिनको बनाना ।।
रक्त में उड़ने लगें जब तितलियां रंगीन पर की ।
उस समय मुश्किल बहुत है देह को सूफ़ी बनाना ।।
रात भर घी के दिये सी आंच देती है हथेली ।
आपने सीखा कहां यों हाथ में मेहंदी रचाना ।।
उड़ रहा पागल धुएं सा जो शहर की चिमनियों से ।
वो धुआं भी चाहता था गांव में इक घर बसाना ।।
पेड़-पौधे भी अगर होते कहीं हिंदू-मुसल्मां ।
फिर तो मुश्किल था ज़मीं पर आदमी का आबोदाना ।।
कुछ दिनों गर और ज़िंदा रह गये इस दौर में हम ।
आ ही जायेगा हमें अख़्लाक़ को पेशा बनाना ।।
क़ब्ल इसके हिमालय ही ख़ुदकुशी करने लगे ।
आबे-ज़मज़म में हमें आ जाये गंगाजल मिलाना ।।

शिव लगे सुंदर लगे

शिव लगे सुंदर लगे सच्ची लगे ।
बात कुछ ऐसी कहो अच्छी लगे ।।
मुद्दतों से मयकदों में बंद है ।
अब ग़ज़ल के जिस्म पर मिट्टी लगे ।।
गीत प्राणों का कभी था उपनिषद ।
अब महज़ बाजार की रद्दी लगे ।।
रक्स करती देह उनकी ख़्वाब में ।
तैरती डल-झील में कश्ती लगे ।।
ज़ुल्फ के झुरमुट में बिंदिया आपकी ।
आदिवासी गांव की बच्ची लगे ।।
याद मां की उंगलियों की हर सुबह ।
बाल में फिरती हुई कंघी लगे ।।
ज़िंदगी अपनी समय के कुंभ में ।
भीड़ में खोयी हुई लड़की लगे ।।
जिस्म "पंकज" का हुआ खंडहर मगर ।
आंख में बृज भूमि की मस्ती लगे ।।

२५४ मोती निधि कॉम्प्लेक्स,
छिंदवाड़ा (म. प्र.) ४८०००१.

की शुरुआत कर सकता है. इस कहानी में संकेत है कि जाति-पांति को भूल कर श्रम-जीवियों को स्वयं को एक वर्ग के रूप में देखने-सोचने से अनेक समस्याओं का हल संभव है. संतराम ख़ुद को खत्री होने के दंभ से अलग नहीं कर पाता. रामप्रसाद का सोच सकारात्मक है - "ऊंच नीच, जात-पात इन चीज़ों को हम लोग ख़त्म कर सकते हैं. राजनीति में पड़े लोग तो हमें बढ़ावा देकर अपना उल्लू सीधा करते हैं." 'समवेत स्वर' में जहां नये मूल्यों की प्रतिष्ठा की संभावना है, वहीं 'शामें और मोहभंग' जैसी कहानी आज भी मनुष्यता के बच रहने की सूचना देती है. इस कहानी की ताई जी, पति के मरने की ख़बर को छिपाकर विवाह संपन्न कराती हैं. लेकिन इस कहानी का एक स्पष्ट उद्घोष यह है कि वर्तमान अमानवीयकरण और अवमूल्यन के दौर में 'साहित्य' की भूमिका ख़त्म नहीं हुई है.

वरिष्ठ कथाकार यशपाल वैद की कई कहानियों - 'विक्षिप्त', 'कारोबार' - में पुरानी पीढ़ी के वे लोग अपने को परिवार और समाज में मिसफिट पा रहे हैं, जो किन्हीं मूल्यों के हामी हैं. 'विक्षिप्त' का पुत्र पिता को नये कपड़े तो नहीं बनवाता, एक टी.वी. ज़रूर ला देता है ताकि वे घर से बाहर ही न निकलें. इन कहानियों में बदलते यथार्थ से टकराव करते हुए कहानीकार अपनी असहमति को सलीके से दर्ज करा सका है. श्री वैद की अधिकतर कहानियां 'स्लो मोशन' में चलती हैं, लेकिन स्थितियों और मनःस्थितियों को क्लोजअप में प्रस्तुत करती हैं. वे विसंगतियों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठक तक वांछित संवेदना धीरे-धीरे पहुंच जाती है. संप्रेषण का संकट वहां सर्वथा नहीं है. भाषा में नक़्क़ाशी करना कहानीकार का स्वभाव नहीं है. लेकिन वह अपने 'कथ्य' को सहज भाव से व्यक्त करने में सक्षम है. एक दो वाक्यों में ही अभिप्रेत की अभिव्यक्ति कई स्थलों पर द्रष्टव्य है. 'पिताजी का दिमाग़ ठिकाने नहीं रहा शायद' (विक्षिप्त), 'लिखने-पढ़ने से मन की तसल्ली भले ही हो जाये, लेकिन पूरा नहीं पड़ता (मुंह फट)', जैसे वाक्य समूची विडंबना को प्रत्यक्ष कर देते हैं.

संग्रह की एक कहानी 'ज्ञान मंजूषा' को छोड़ दें तो अन्य कहानियां आकार में अधिक बड़ी नहीं हैं और अपने इच्छित प्रभाव को डालने में सफल हैं. 'ज्ञान मंजूषा' उपन्यास-अंश सरीखी लगती है. कहानी के तौर पर इसमें स्फीति है और किसी मूल्यबोध और सूक्ष्म व्यंग्य को उभारने में यह विशेष सफल नहीं है. श्री वैद की अधिकतर कहानियां अपनी सहजता और सादगी के लिए जानी जायेंगी. लेकिन आज की कहानी का वह पाठक-वर्ग जो दलित चेतना और नारी-विमर्श के उत्तेजक मुहावरे का, अभ्यस्त हो चुका है, वह पूछ सकता है कि ये कहानियां इतनी सीधी-सादी और सहज क्यों हैं ? इनमें किंचित वर्तुलता और वक्रता क्यों नहीं है ?

डी-१३१, रमेश विहार, अलीगढ़ (उ. प्र.)

एक सार्थक लघु-कथा संगम : 'त्रिवेणी'

✍ डॉ. भगीरथ बड़ोले

'त्रिवेणी' (लघुकथा संग्रह) : संपादक - **श्री श्रीराम दवे**
प्रकाशक : प्रगतिशील लेखक संघ,
बी-१०, अरविंद नगर, उज्जैन, **मूल्य** - १००/- रु.

कथात्मक विधाओं के अंतर्गत वर्तमान में लघुकथा अपने वर्चस्व को निरंतर बढ़ा रही है. कला तत्त्वों से सम्यक् संपूरित यह विधा एक ऐसी सर्जना है जिसमें आकार की लघुता के साथ-साथ प्रहार और प्रभाव की तीव्रता भी अनिवार्यतः अपेक्षित है. इस दृष्टि से यदि नवप्रकाशित लघुकथा संग्रह 'त्रिवेणी' की कुछ उदारता से परख की जाये, तो एक संतोषपूर्ण स्थिति ही नज़र आती है. प्रगतिशील लेखक संघ उज्जैन द्वारा प्रकाशित 'त्रिवेणी' में इंदौर के तीन लघुकथाकारों की इकसठ लघु-कथाओं को संपादक श्रीराम दवे ने कुशलता से गुंफित किया है. तीनों ही शिक्षा-विद् कथाकारों का रचनाधर्मी व्यक्तित्व बहुआयामी तथा बहुप्रशंसित रहा है.

'त्रिवेणी' में संकलित पहले लघुकथाकार हैं श्री योगेंद्रनाथ शुक्ल. कहानी, व्यंग्य, कविता एवं संपादन-कर्म के माध्यम से प्रसिद्ध तथा अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित इस रचनाकार की अद्यावधि २०० लघुकथाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं. प्रस्तुत संकलन में उनकी २१ लघुकथाओं को देखकर प्रतीत होता है कि सामाजिक सरोकारों को प्रमुखता देने वाला यह रचनाकार आज की दुनिया के रवैये से बहुत क्षुब्ध है. लगता है पूरा युग ही व्यापारी हो गया है और हर ओर स्वार्थपरता इस क़दर हावी है कि कहीं भी किसी ईमानदार की कोई क़दर नहीं. शरीफ़ त्रस्त हैं, ग़रीब और देशभक्त दुखी हैं, आदर्शवादी आहत हैं, किंतु भ्रष्टाचार में आद्यंत डूबे राजनीतिज्ञ और प्रशासकीय अधिकारी मौज-मज़े में हैं. इस क्रम में श्री शुक्ल ने अनेक विसंगत स्थितियों पर बहुआयामी व्यंग्य प्रहार भी किये हैं और अनेक रचनाओं में मानवीय जीवन में निहित करुणा को भी उभारा है. बल्कि एक जगह तो एक विपन्न द्वारा तीर-कमान लेकर निकलने की बात प्रतिपादित कर अपनी प्रगतिशील चेतना का भी परिचय दिया है. उनकी 'शराफ़त', 'मजबूरियां', 'चीख़', 'ईमान का इनाम', 'असहायता', 'सरकारी आदमी' तथा 'इतना बड़ा असत्य' प्रबल सांकेतिकता के माध्यम से जीवन के गहरे अर्थों को उकेरती दमदार लघुकथाएं कही जा सकती हैं. वस्तुतः श्री शुक्ल के व्यंग्य-प्रहारों में यही प्रगतिशील सूक्ष्म दृष्टि आद्यंत क्रियाशील है. अतः कथातत्वों का सम्यक् निर्वाह करने वाली उनकी अनेक रचनाएं अपनी स्थिति सत्ता में समर्थ कही जा सकती हैं.

प्रस्तुत संग्रह के दूसरे लघुकथाकार हैं श्री सुरेश शर्मा, जिनकी बीस रचनाओं को 'त्रिवेणी' में स्थान मिला है. कहानी-लघुकथा के कई संग्रहों का प्रकाशन एवं अनेक पुरस्कार-सम्मान अर्जित करने वाले इस रचनाकार के सरोकार भी सामाजिक विसंगतियों से संबद्ध हैं. उन्होंने अपनी रचनाओं में एक ओर शासन एवं प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को लपेटा है तो दूसरी ओर दुनिया की बिगड़ती स्थिति और दीन वर्ग, विशेषतः नारी की दुर्दशा को रेखांकित किया है. इस क्रम में मानवीय रिश्तों की टूटन तथा मानवीयता की पृष्ठभूमि को उकेरती उनकी रचनाएं मूल्यों के धरातल पर क्रांति के भी कुछ संकेत देती हैं. जीवन को जीने की समस्या उनकी अहम् समस्या है और इसीलिए उन्होंने उलट स्थितियों के चित्रों को व्यंजित अवश्य किया है, किंतु इसके पीछे उनका लक्ष्य विरोधाभासमयी कतई नहीं है. बात चाहे 'लक्ष्मीनिवास' की हो या 'फालतू लोग' की, 'इज़्ज़त' की या 'पुण्य' की 'पितृ-प्रेम' की या 'कुत्ते' की - प्रायः हर कहीं सांकेतिकता के भीतर से दुनिया के रवैये के प्रति एक गहरा मानवीय दर्द नज़र आता है.

श्री प्रताप सिंह सोढ़ी इस संग्रह के तीसरे लघुकथाकार हैं. कहानी, व्यंग्य, समीक्षा, काव्य रचना आदि विविध विधाओं में नियमित लेखन करने वाले तथा प्रकाशित होने वाले इस रचनाकार की बीस लघुकथाएं 'त्रिवेणी' संग्रह में संकलित हैं. यहां एक बात स्पष्ट करना ज़रूरी है कि श्री सोढ़ी अपनी कथाओं में बात को पूरे परिवेश के साथ उभारते हैं, अतः रचनाओं में कसाव की अपेक्षा फैलाव अधिक नज़र आता है. मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित इनकी लघुकथाएं भावुक संवेदना से सराबोर हैं. इसी क्रम में दुनिया के बदले स्वरूप को रेखांकित करते हुए उनका मानना है कि आज का युग धंधेबाज़ों का युग है, जहां लोग मानवीय मूल्यों को सम्मान नहीं देते. हर ओर एक बिगड़ा हुआ ढर्रा सक्रिय है, जिसके कारण जीवन के सम्मुख समस्याएं सायास निर्मित की जाती हैं और लोग त्रस्त होते रहते हैं. स्वार्थ परता और अहं के चक्कर में मानवीय रिश्तों की महक़ खोने लगी है. इसीलिए श्री सोढ़ी ने अपनी रचनाओं में मानवीयता और उसके मूल्यों का स्पष्ट समर्थन किया है. न्याय, ईमानदारी, धर्म, सच्चाई और सदाचार को दृष्टिपथ में रखकर रची गयी ये रचनाएं वस्तुतः आदर्शों की पक्षधर हैं. इस दृष्टि से 'रिश्तेदार', 'नौकरी छूट गयी', 'प्रमाण-पत्र', 'कर्फ़्यू', 'संरक्षण', 'उपहार' आदि अच्छी लघुकथाएं कही जा सकती हैं.

इस प्रकार 'त्रिवेणी' कथा संग्रह अपनी समग्रता में एक ओर वर्तमान विसंगतियों पर व्यंग्य प्रहार करता है, तो दूसरी ओर दीन-हीन वर्ग के प्रति मानवीयता की दृष्टि को विस्तार देता है और तीसरी ओर आदर्श मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए मनुष्य को प्रेरक संदेश भी प्रदान करता है. इस क्रम में कहीं बात अपनी सांकेतिक अभिव्यंजना के कारण अधिक सशक्त हो गयी और कहीं विस्तार के व्यामोह ने उसे शिथिल भी बना दिया है. इन तमाम ६१ रचनाओं में से अधिकांश रचनाएं कथा तत्त्वों को उनकी संपूर्णता में समेटती हैं तो कहीं आधी-अधूरी भी नज़र आती हैं. बावजूद इसके सभी में हर वर्ग के पाठकों को सम्मोहित करने की प्रभाव क्षमता मौजूद है. विश्वास है कि ये तमाम कथाकार भविष्य में अपनी रचनाधर्मिता को और भी सजगता, कुशलता और परिश्रम से निबाहते हुए लघुकथा साहित्य की परंपरा को और भी कुछ अच्छा देने में समर्थ सिद्ध होंगे. अस्तु, फिलहाल इस 'त्रिवेणी' में अवगाहन करते हुए एक वाजिब सृजन-प्रयास का सम्मान करना सर्वथा समीचीन होगा.

२८६, विवेकानंद कॉलोनी,
फ्रीगंज, उज्जैन - ४५६ ०१०.

'हमको सुरग नहीं चाहिए' का सच

✍ डॉ. शिवनंदन

हमको सुरग नहीं चाहिए (कहानी-संग्रह) : **कनकलता**
प्रकाशक - जगत राम एंड सन्स, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२. **मूल्य** - १२५/- रु.

मैं बेपनाह अंधेरों को सुबह कैसे कहूं,
मैं इन नज़ारों का अंधा तमाशबीन नहीं.

- दुष्यंत कुमार

कथा लेखिका कनकलता का मूल संकट है कि वह बेपनाह अंधेरों को सुबह नहीं कह सकतीं. उनका यह तेवर कहानियों में लक्षित है. उनके नौ कहानी संग्रह - 'दो हिस्सों में बंटी मैं', 'गांधारी ने आंखें खोलीं', 'ज़ख़्मों के दरख़्त', 'प्रतिशोध', 'यादों का कारवां', 'बोन्साई', 'तृष्णा', 'आठवीं लड़की का जन्म' तथा 'हमको सुरग नहीं चाहिए' - प्रकाशित हुए हैं. लेखिका ने प्रायः सभी कहानियों में समाज की दुखती रगों पर उंगली रखी है. मानव मूल्यों की गिरावट और सुरसा के मुख की तरह लगातार फैलती अपसंस्कृति से उत्पन्न त्रासदी ही कनकलता की कहानियों की मूल संवेदना है. "हमको सुरग नहीं चाहिए" संग्रह की कहानियां नग्न यथार्थ पर केंद्रित हैं. इस संग्रह में चौदह कहानियां हैं. सभी समाज की अलग-अलग समस्याएं परोसती हैं. कनकलता के अन्य कहानी संग्रहों में यथार्थ का जो धरातल दिखता है, वही आलोच्य संग्रह में भी बरकरार है. जनजीवन की समस्याओं के ज्वलंत और आम को लेकर कहानियों का ताना-बाना बुनने में कनकलता ने अपने कौशल का अद्‌भुत प्रयोग किया है. कथा कहने की निजी शैली के कारण एक-एक कहानी सर्वांग मौलिकता से पूर्ण है.

कनकलता की कहानियों में आत्मा है, नारी शोषण और शोषण के विरुद्ध ऊंची उठती आवाज.

हमको सुरग नहीं चाहिए, कहानी संग्रह में नारी शोषण के चित्र तो हैं ही, साथ ही इसकी अधिकांश कहानियां कोयलाचंल केंद्रित भी हैं. मलकट्टों और उनके परिवार के प्रति व्यवस्था की उपेक्षापूर्ण नीतियों का खुलासा भी है. इन कारणों से ही संग्रह की सभी कहानियां हमारे बीच की लगती हैं. कहानी, पात्र, भाषा, दृश्य और समस्याएं सभी अपने ही बीच के हैं. इसलिए कहानियां विश्वसनीय लगती हैं.

'हमको सुरग नहीं चाहिए', संग्रह की पहली कहानी है. यह मूल रूप से पंडितवाद के असमर्थन और विरोध की कहानी है. पंडितवाद ने समाज को खोखला किया है. आज भी इस वाद का ऐसा जाल फैला है कि वह संपूर्णता में कट नहीं पाया है. इसी वाद के साये में कुकर्म की खेती लहलहाती रही है, तब भी पंडितवाद आदरणीय बना है.

'हमको सुरग नहीं चाहिए' में अकली की मूल वृत्ति को लेखिका ने चित्रित किया है. जब उसका पुत्र बिसुआ कहता है कि वह उसकी मृत्यु के बाद के क्रियाकर्म के लिए पैसे एकत्र करेगा, और बहुत अच्छी तरह श्राद्धकर्म, दान आदि करेगा. सुनकर अकली विफर उठती है. वह कड़ा विरोध करती हुई कहती है, "कान खोल के सुन ले, अभागा... हमको सुरग नहीं चाहिए...सुरग खातिर हाड़-चाम बेचेंगे, ससुर" (पेज-९). यही इस कहानी का मूल स्वर है.

'एक सच की मौत' में बढ़ती बलात्कारी वृत्ति का घिनौनापन चित्रित है. समाज के दबंग लोग पैसे और शक्ति के बल पर हर अपराध से बच जाते हैं. समाज का दबा-कुचला और कमज़ोर आदमी सच नहीं कहने के लिए बाध्य किया जाता है, क्योंकि सच के सामने आते ही सफ़ेदपोश नंगे हो जायेंगे.

'मुक्ति', दहेज दानव से अक्रांत नवविवाहिता की कहानी है. कितनी ही फूल सी कोमल और सुवासित कन्याएं दहेज की शिकार हो असमय ही या तो कालकवलित हो जाती हैं, या फिर उपेक्षा का दंश झेलती नर्कमय जीवन जीने के लिए विवश हो जाती हैं. इस कहानी की पारुल एक ऐसी नारी है, जो दहेज की शिकार होती है. दहेज लोलुप किस तरह हत्या का षड़यंत्र रचते हैं, इसका खुलासा इस कहानी में हुआ है.

'बाघ का मुंह', 'छांह' और 'अज़गर' ये कोयलाचंल के कोयला मजदूरों की कहानियां हैं. इन सभी कहानियों के माध्यम से कनकलता ने व्यवस्था को नंगा कर दिया है. कोयला श्रमिक व्यवस्था की उपेक्षा की शिकायत करते रहते हैं. लेखिका ने उन तमाम स्थितियों का चित्रण किया है, जिनके कारण कोयला खदानों में आये दिन दुर्घटनाएं होती रहती हैं. व्यवस्था दोष के कारण समय पर लिफ्ट नहीं उतर पाती, और उस पाली के मज़दूर खान के भीतर ही फंस जाते हैं. कोई बाहर नहीं आ पाता. कहानीकार ने सरबतिया के माध्यम से उस कारुणिक दृश्य का चित्रण प्रस्तुत किया है. खान में पानी भर जाने के कारण श्रमिकों की जलसमाधि के एक वर्ष बीत जाने के बाद भी तपेसरी पागल की भांति सुबह-शाम खदान के पास मंडराती रहती है. शायद उसे आशा है कि उसका पति वापस आयेगा. 'छांह' में तपेसरी पति के शोक में जिस तिस तरह जी रही होती है, लेकिन सास बेटे की मृत्यु और तीन-तीन बेटियों को जन्म देने का पूरा दोषी उसे ही मानती हुई खरी-खोटी सुनाती रहती है. आज भी लड़की का जन्म लेना अभिशाप बना हुआ है. कोयला क्षेत्र में महाजनी प्रथा एक अभिशाप है. महाजन अपनी दुकान चलाने के लिए श्रमिकों को शराबी बना डालते हैं, और फिर उनका खून चूसते रहते हैं.

'अज़गर' कहानी में कनकलता ने कोयला क्षेत्र में जब्बर सिंह जैसे लोगों द्वारा किये जा रहे श्रमिक शोषण का पर्दाफ़ाश किया है.

'उड़ान' उस भारतीय पुरुष की कथा है, जो विदेश में अपनी मर्यादाओं को लांघते हुए विदेशीबाला से विवाह तक संपन्न कर लेता है, और मर्यादाओं में रहती हुई अपने पति पर प्रेम न्यौछावर करती तथा समर्पण भाव से पूर्ण पत्नी उसे दकियानूसी लगने लगती है. शिवांगी में कथा लेखिका ने अपूर्व ऊर्जा की कल्पना की है. वह नन्ही वंशिका को लेकर हिंदुस्तान वापस आ जाती है, और जीवन के थपेड़े सहती हुई वंशिका को डॉक्टर बनाने में सफल होती है.

शिवांगी बेटी को ऊंची शिक्षा के लिए विदेश भेजती है, बादलों के बीच वंशिका के प्लेन को ऊपर उड़ते देख उसे परम संतुष्टि होती है. - "बादलों को चीरते हुए वंशिका का प्लेन आसमान की गहराइयों से गुज़रता हुआ आगे बढ़ता चला गया. एकटक आसमान की ओर ताकती शिवांगी को महसूस हुआ जैसे उसके शरीर में सहस्त्र पंख निकल आये हों.

वह धरती, आकाश, हर ऊंचाई तक उन्मुक्त उड़ान भर सकती है. " (पृष्ठ ६४).

'रिश्तों के धागे' एक ऐसे परिवार की कहानी है, जहां बूढ़े पिता को जवान पुत्र उन्हें उनके हाल पर निःसहाय छोड़ देते हैं.

'गूजरी महल' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखी गयी हिंदू मुस्लिम सौहार्द की कहानी है.

'जिबह' कहानी में इंसानी रिश्तों और ज़ज़्बात को पैरों तले रौंद डालने का वर्तमान सच चित्रित है. 'वह कमज़ोर लड़की' में कहानीकार ने स्पष्ट किया है कि परिवेश और परिस्थितियों के प्रभाव से व्यक्ति में बदलाव आ जाता है. इस कहानी की संवेदना ऐसी नारी है, जो काफी बोल्ड हो जाती है. संवेदना आज की

नारी के लिए प्रेरणा है. 'यादों के ज़ख़्म' परतंत्र भारत में अंग्रेजों के आतंक की कहानी है. 'पुनिया का क्या होगा ?' में उस तेतरी की कहानी है, जिसे गरीबी ने असमय ही वृद्धा और लाचार बना दिया है. 'रसीला' इस संग्रह की आख़िरी कहानी है. इस कहानी में लेखिका ने हिजड़ों की पीड़ा का अंकन किया है. समाज की उपेक्षा सह रहे हिजड़ों की मनस्थिति को बड़ी जीवंत भाषा में उभारा गया है. कहानी लेखिका ने समाज के कई ज्वलंत सचों को स्वर दिया है. एक स्वस्थ समाज के निर्माण में इस संग्रह की कहानियां महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगी - ऐसा मेरा विश्वास है.

रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
आर. एस. मोर कॉलेज, गोविंदपुर, धनबाद

जीवंत नाट्य कृति : 'एक भिखारिन की मौत'

डॉ. दामोदर खड़से

एक भिखारिन की मौत (नाटक) : **संजय भारद्वाज**
प्रकाशक - क्षितिज प्रकाशन, १६ कोहिनूर प्लाज़ा,
पेट्रोल पंप के पास, एलफिन्स्टन रोड,
खड़की, पुणे - ४११ ००३. **मूल्य** - १००/- रु.

संजय भारद्वाज की जब बात चलती है, तब वे एक कवि के रूप में उभरकर सामने आते हैं. "हिंदी आंदोलन" के आधार स्तंभ के रूप में उनकी विशिष्ट पहचान है. कई सामाजिक-सांस्कृतिक मंचों से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उनका जुड़ाव सहज देखा जा सकता है. पिछले दिनों जब उनका नाटक "एक भिखारिन की मौत" पढ़ा तो लगा संजय भारद्वाज केवल नाटकों के लिए बने हैं. वैसे यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जिस क्षेत्र में सामने आते हैं, लगता है वे इसी क्षेत्र के लिए ही हैं. यह उनके कार्य समर्पण का परिचायक है.

"एक भिखारिन की मौत : दो अंकी सच" एक ऐसे नाटक का परदा उठता है, जिसमें समाज के विशिष्ट वर्ग का असली चेहरा देखकर एक सिहरन सी-उठती है. नाटककार संजय भारद्वाज की इसमें सबसे बड़ी खूबी यह है कि नाटक को इस कदर सघनता से पिरोया है कि कहीं भी कसाव कम नहीं होने पाता. दूसरी विशेषता यह है कि "भिखारिन" मंच पर कहीं नहीं है जबकि वह नाटक के केंद्र में है. "भिखारिन" एक पात्र, जीवंतता के साथ दर्शकों के मानस में निरंतर उभरता रहता है. संवादों के माध्यम से संजय भारद्वाज ने इस पात्र को संपूर्ण नाटक में इस तरह बुना है कि पाठक-दर्शक उसे अपनी आंखों के सामने अनुभव करते हैं.

इस नाटक के माध्यम से संजय भारद्वाज का समाज चिंतन प्रखरता से उजागर हुआ है. "भूख" पर न जाने कितना कुछ कहा-लिखा गया होगा. लेकिन एक भिखारिन की भूख और समाज के तथाकथित बुद्धिजीवी, चित्रकार, पत्रकार, समाजशास्त्री, राजनीति के भीतर छिपे "भूखे भेड़िये" के चेहरे से बहुत रोचक ढंग से नकाब खींचने वाले संजय भारद्वाज ने सामाजिक स्थितियों को सफलता से रेखांकित किया है. एक चौराहे पर एक भिखारिन की मौत फोटोग्राफर के लिए अख़बार के लिए चर्चित फोटो होगी. पत्रकार के लिए सनसनीखेज ख़बर, चित्रकार के लिए कला का अद्‌भुत अवसर, पुलिस के लिए मुंह में समाया शिकार, समाजशास्त्री के लिए छद्म-चिंतन की खाल में काम-तृप्ति-साधन अनायास ही उभर आता है. नाटककार ने बहुत कौशलपूर्ण ढंग से समाज के विभिन्न वर्गों की मानसिकता संवादों के माध्यम से व्यक्त कर यौन-कुंठा और विकृत मानसिकता को रूपायित किया है. एक नाटक के रूप में इसे निबाहना एक बहुत बड़ी चुनौती थी. घटना से प्रभावित होना, संवेदनशील हो जाना, धीरे से बयान करना और बात है, परंतु नाटक में पिरोकर असामाजिक पात्रों के व्यवहार से, उनके नकाब नोंचकर उनका असली चेहरा एक नाटक में बुनना चुनौती भरा काम था, जिसे संजय भारद्वाज ने अंजाम दिया है.

"एक भिखारिन की मौत" न सिर्फ़ सामाजिक चिंतन के नज़रिये से बल्कि नाट्यकला की दृष्टि से भी एक सार्थक कृति है. ऐसा कहा जाता है कि मंचन की दृष्टि से हिंदी नाटक, मराठी, बांग्ला, पंजाबी की तुलना में कम सफल होते हैं. लेकिन, यह नाटक अपने विषय और संवाद के बल पर अवश्य यशस्वी होगा. संजय भारद्वाज का सामाजिक सरोकार खुलकर सामने आया है, उनकी प्रतिबद्धता, संवेदना और उनके कलाकार का यह संयुक्त संस्करण है. जिस गरीबी की ओर वे सबका ध्यान खींचना चाहते हैं, जिस तथाकथित सभ्य और बुद्धिजीवी-वर्ग को सब आधार स्तंभ मानते हैं, उनकी खोखली और विसंगत-विकृत सोच को संजय भारद्वाज सबके सामने रखना चाहते हैं. इसमें वे यशस्वी हुए हैं. व्यक्ति-समाज का यह मंथन निश्चित ही एक सक्रिय आशा की किरण जगाता है.

डी/डी-८० वृंदावन कॉम्प्लेक्स,
शांतिबन के पास, कौथरूड, पुणे - ४११ ०२९

ग़ज़लें

✍ एम. अयाज़ "गुड्डू"

ज़िंदगी की सच्चाइयों से हैरान हूं ।
ग़मे - रोज़गार से परेशान हूं ।।

हुजूम रहता है तन्हाइयों का ।
फिर भी बियाबान हूं ।।

जो समझ न आये वो बात हूं ।
बच्ची की ज़िद का अरमान हूं ।।

मिलने से कतराने लगे लोग ।
सनकी तानाशाह का फ़रमान हूं ।।

किसी फ़कीर की कब्र का ।
मुट्ठी भर आसमान हूं ।।

खुद अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारी ।
अपनी बर्बादी का सामान हूं ।।

तमन्नाओं के फूल मुरझा गये ।
उजड़े हुए चमन का बाग़बान हूं ।।

रूठ गया हूं ज़िंदगी से
खुदकुशी पर मेहरबान हूं ।।

वार्ड ११, सगम, जुन्नारदेव,
जि. छिंदवाड़ा (म. प्र.) ४८० ५५१

✍ राजेंद्र तिवारी

(१)

अब रेत ही मिलनी है यहां ढूंढ़ता है क्या ।
साहिल प' घरौंदों के निशां ढूंढ़ता है क्या ।।
इख़लाक़, रवादारी, वफ़ा, प्यार, मुहब्बत ।
मिलते हैं गुहर अब ये कहां ढूंढ़ता है क्या ।।
आंखों में किसी ताज की तस्वीर सजाये ।
इस दौर का ये शाहजहां ढूंढ़ता है क्या ।।
पिघलेंगे, पसीजेंगे न बोलेंगे ये पत्थर ।
बेकार बुतों में तू ज़बां ढूंढ़ता है क्या ।।
रहने के लिए ढूंढ़ जगह दिल में किसी के ।
तू ईंट के, पत्थर के मकां ढूंढ़ता है क्या ।।
ये किसके लिए भागा चला जाता है दरिया ।
बेचैन सा ये आबे-रवां ढूंढ़ता है क्या ।।
'राजेंद्र' तसव्वुफ़ न कलंदर सी तबीयत ।
ग़ालिब का वो अंदाज़े-बयां ढूंढ़ता है क्या ।।

(२)

मुफ़लिस की जवानी के लिए सोचता है कौन ।
अब आंख के पानी के लिए सोचता है कौन ।।
प्यास अपनी बुझाने में हैं मसरूफ़ सभी लोग ।
दरिया की रवानी के लिए सोचता है कौन ।।
मिट्टी के खिलौनों प' फ़िदा होती है दुनिया ।
मिट्टी की कहानी के लिए सोचता है कौन ।।
बेताब नयी नस्ल है पहचान को अपनी ।
पुरखों की निशानी के लिए सोचता है कौन ।।
सब अपने लिए करते हैं लफ़्ज़ों की तिजारत ।
लफ़्ज़ों के मआनी के लिए सोचता है कौन ।।

'तपोवन,' ३८-बी, गोविंद नगर,
कानपुर-२०८ ००८

कविता

नया साल आ गया है

✍ देवेंद्र सिंह

समय के पिछले सफ़े पर से
बहकर आ गया है बहुत सारा लहू,
समुद्र फेंक रहा है लाशें,
लाशें ही लाशें, यहां से वहां तक,
अनगिनत त्रासदियां रच दीं
सुनामी लहरों ने
धरती ने कुछ कहा है / क्रोध से कांप कर
पर कान दिया कहां किसी ने.
उन मासूमों को देखो
समुद्र ने भर दिया है उनकी आंखों में
अपना खारा जल,
सब कुछ लील गयीं लहरें
होगा क्या उनका ?
वे लोग कौन हैं / जो रोशनियां सजा रहे हैं ?
नाच रहे बिटनी मेडोना के साथ
मदोन्माद में लहरा रहे हैं
ब्रायन और जैक्सन की धुन पर
वे जश्न मना रहे हैं,
हां ! नया साल आ गया है.

देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़,
भागलपुर (बिहार) ८१२ ००१

कविताएं

अपने विरुद्ध

✍ हरदर्शन सहगल

सांप्रदायिकता, फासीवाद, भगवाकरण वग़ैरह वग़ैरह शब्द
इस्तेमाल होते हैं, गालियों की तरह.
गालियां दो किसी को, अपने हिसाब से
भड़क उठता है गाली खाने वाला
सच्चा हो, या फिर झूठा
गर खाता है बड़ा समूह गाली / बारंबार
एकजुट हो जाता है / लाभांवित होता है.
हो मुकाबिल, तान लेता है, हथेलियां
आज का मामूली उग्रवाद
कल के कट्टरवाद में बदलता है
धरातल खिसकता है, हानि होती है
शब्दों के चितेरों की,
गाली देने वाले बिखर जाते हैं
सहम जाते हैं,
बस, आपस में मिल बैठ कर
कोसते रहते हैं / शोर मचाते रहते हैं -
फासीवाद, भगवाकरण, हिंदुवादी शक्तियां वग़ैरह वग़ैरह.

दुधारी तलवारें

नहीं चाहता था जन्म
और शायद नहीं चाहता मरण
लेकिन जीवन मरण
दुधारी तलवारें हैं,
इनके बीच
विवश हूं
सब कुछ सहने को
चाहने को
चाहा,
अनचाहा
स्वीकार करने को
हाज़िर हूं
अपने माथे और सिर के साथ.

५-ई-९ 'संवाद', डुप्लैक्स कॉलोनी, बीकानेर-३३४ ००३

रात का अंधेरा

✍ शंकरानंद

वे दिन में देते हैं कपड़े
और रात को उतार लेते हैं,
अलग कर देते हैं कपड़े से शरीर को,
वे वसूल करते हैं,
एक-एक इंच कपड़े की कीमत,
रात का अंधेरा
छिपा देता है बहुत कुछ
और पता भी नहीं चलता है.

भूख मजबूर है

भूख मजबूर है रोने के लिए
भूख मजबूर है उदास होने के लिए
भूख मजबूर है हथियार उठाने के लिए
भूख मजबूर है गोली चलाने के लिए
भूख मजबूर है मारने के लिए, मरने के लिए
भूख मजबूर है डराने के लिए, डरने के लिए
भूख वह सब कुछ करने के लिए मजबूर है
जो नहीं करना चाहिए,
भूख को रोटी चाहिए.

क्रांति भवन, चित्रगुप्त नगर, खगड़िया-८५१ २०४

पासवर्ड

✍ पलाश विश्वास

सूचना महामार्ग खुला है अनंत,
विस्फोट दर विस्फोट सिलसिला भी अनंत,
स्मृतियां निरुद्ध अंधकार,
वातानुकूलित संवेदनाएं मॉनीटरबंद,
आंकड़ों का समुंदर लहराता,
पासवर्ड भूल गये,
कोई संकेत याद नहीं,
दस्तक दें किस दरवाज़े पर ?
सहायक खिड़कियां तमाम बंद,
कोरा मॉनीटर स्वप्नहीन,
धूल धूसरित रंगप्रिज़्म,
पंचेंद्रियां निष्क्रिय,
अनुत्तरित हैं तमाम प्रश्नचिह्न.

गोष्टो कानन, सोदपुर, कोलकाता-७०० ११०

लघुकथा

बचे खुचे दिन

✍ डॉ. सुरेंद्र गुप्त

मैं अपने भैया के यहां जा रही थी. रास्ते में अंबाला मेरे ताया जी की लड़की सुमित्रा का घर पड़ता था. इस बार उसके आग्रह पर एक रात के लिए मैं वहां रुक गयी. वह मुझे देख कर बहुत खुश हुई. दोनों बच्चे भी साथ थे. वह मुझे बैठक में ले गयी तथा मेरे संग बैठ कुशल-क्षेम पूछने लगी. कुछ क्षण उपरांत उसकी सास ट्रे में पानी के गिलास रख कर लायी तथा पानी पकड़ाते हुए मुझ से बोली - 'बेटी कैसी हो ?'

मैंने भी आगे बढ़ कर पांव छुये तथा कुशलक्षेम पूछी - 'ठीक हूं मौसी, आप सुनाओ.'

'मैं भी ठीक हूं बेटा !' इतना कह कर वह पानी के ख़ाली गिलास लेकर चली गयी.

मैं और सुमित्रा बहुत दिनों बाद मिले थे, इसीलिए हम फिर से भाइयों, भाभियों, बहनों तथा अन्य सभी रिश्तेदारों के बारे में चर्चा करने लगीं. कुछ ही देर में उसकी सास ट्रे में चाय, नमकीन तथा बिस्कुट लेकर आ गयीं. चाय भी हो गयी. खाने का भी वक़्त हो गया पर हमारी बातों का सिलसिला थमने का नाम ही नहीं ले रहा था. शायद हम आज अगली-पिछली बातों का या पिछले कई वर्षों का कोटा पूरा कर लेना चाहते थे.

समय तेज़ी से खिसक रहा था. जब दो बजने को आये तभी बूढ़ी सास ने आकर कहा - 'बेटी, खाना तैयार है. हाथ-वग़ैरा धो लो. अरे हां, बच्चों के लिए एक ही थाली में डाल दूं या अलग-अलग से ?

'नहीं मौसी, इन्हें अलग ही डाल कर देना होगा, वर्ना ये तो लड़ पड़ेंगे.'

वह खाना लाने रसोई में चली गयी, पर सुमित्रा वहीं बैठी रही. मुझे बहुत शर्म आयी. मेरी इच्छा थी कि मैं उसके साथ जाकर खाना ले आऊं, पर कहीं सुमित्रा बुरा न मान जाये इसीलिए चुप ही रही. उसकी सासू मां ही बैठक तथा रसोई के बीच चक्कर काटती रही. खाने के बाद मैं थालियों को उठा कर रसोई में वाश-बेसन में रखते हुए बोली - 'मौसी जी, अब आप भी खा लो.' मैंने उन्हें थाली में रोटी डाल कर दी तो उनकी आंखों से बरबस ही आंसू बह निकले जो उनकी पूरी व्यथा बयान कर गये.

मैं वापस सुमित्रा के पास आकर बैठ गयी. हम फिर से बातचीत में व्यस्त हो गये. उसके दस मिनट बाद मुझे रसोई में से बर्तन खनकने की आवाज़ आयी. मैंने सुमित्रा से पूछा - 'क्या बात सुमित्रा, बर्तन मांजने वाली नहीं लगा रखी क्या ?'

'अब दीदी क्या बताऊं, झाड़ू-पोचे वाली तो लगा रखी है. मां जी बर्तन दोनों टाइम अपने-आप मांजती हैं. वह बर्तन मांजने वाली को लगने ही नहीं देतीं.'

सुमित्रा के दोनों बच्चे स्कूल से आ गये थे. मैं उनके संग बतियाने लगी. सुमित्रा उठ कर उनके लिए खाना लाने लगी तो मैंने रोक दिया. मैंने कहा -'सुमित्रा, तुम इनके कपड़े बदलो तब तक मैं खाना लाती हूं.'

बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये मैं रसोई की ओर बढ़ गयी. सासू मां अपने बूढ़े हाथों से बर्तन धो रही थीं. मैंने थाली में रोटी डालते हुए कहा - 'मौसी, बस छोड़ दो, मैं बच्चों को रोटी देकर अभी धो देती हूं. चलो आप आराम कर लो. कब से लगी हो, अब तो बुढ़ापे में आराम करने के दिन हैं.'

'अरे बेटी, यह तो नित्य का काम है. और बेटा, तुम एक दिन के लिए ही तो आयी हो.'

मैंने सच्चाई जानने के लिए ही पूछा - 'क्या बात मौसी बर्तन मांजने वाली नहीं लगा रखी.'

'बेटा यह तो बहू ही जाने, जब मैं दूसरे बेटे के पास थी तो, मेरे पीछे से तो लगा रखी थी, जब से मैं आयी हूं, तभी से हटाई है.'

'कोई बात नहीं, मैं शाम को जीजा जी से बात करूंगी.'

यह सुनकर वह एक दम सहम-सी गयी. डरती-डरती बोली - 'न...न... बेटा... न... न..., बहू कहेगी मैंने शिकायत की है, और घर में तूफ़ान आ जायेगा. कुछ न कहना बेटी, बचे-खुचे दिन जो काटने हैं.'

आर.एन.-७, महेश नगर, अंबाला छावनी-१३३००१

लेटर बॉक्स

"कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक प्राप्त हुआ. संपूर्ण अंक पढ़ डाला. सभी कविताएं, लघुकथाएं एवं कहानियां स्तर की हैं व यथार्थपरक हैं, केवल एक को छोड़कर. पत्रिका के अंक विलंब से आ रहे हैं पर इसमें दम बहुत है.

डॉ श्याम सखा 'श्याम' की कहानी यथार्थ से दूर एवं अस्वाभाविक लगती है. जब कोई दुर्घटना होती है तब 'प्रथम सूचना रिपोर्ट' में कई बार धारा निश्चित नहीं हो पाती और सही धारा के निकट की धारा लगायी जाती है और जब पोस्टमार्टम रिपोर्ट आती है तब सही एवं निश्चित धारा लगती है. डॉ. रामऔतार ने क़ुबूल किया कि उसने पत्नी को मारा, इसमें धारा ३०२ लगनी थी तथा पोस्टमार्टम के बाद यह धारा बदलनी थी क्योंकि पत्नी हृदयगति रुक जाने से मरी. इसके बाद प्रकरण आगे बढ़ता, डॉ. भले ही भ्रमवश कहता कि उसने पत्नी को मारा है. न्यायधीश को एक सप्ताह के बाद रिपोर्ट मांग कर धारा निश्चित करनी थी. परंतु वह अंधेरे में तीर चलाता रहा और परेशान रहा कि डॉ. को कैसे छोड़ा जाये ! जब निर्णय का दिन आया तब पोस्टमार्टम की रिपोर्ट पेश हुई. यह न्याय प्रक्रिया में नहीं आता. पहले ही डॉ. को ज़मानत मिलना आवश्यक था, क्योंकि क़त्ल प्रकरण प्रमाणित नहीं था. यदि पहले ही जज पोस्ट मार्टम की रिपोर्ट मंगा कर फाइल में लगाता तो डॉक्टर को ज़मानत शीघ्र मिल जाती.

न्याय का उद्देश्य है कि हज़ार अपराधी छूट जायें पर एक निर्दोष को दंड न मिले. डॉ. श्याम सखा कल्पना में बह गये और यथार्थ पर पर्दा डाल दिया. कहानी का शीर्षक भी ग़लत है. क़त्ल सिर काटने पर या शरीर छेदन से हुई मृत्यु को कहते हैं. यहां पर हत्या शब्द उचित था. पुलिस चालान पोस्टमार्टम रिपोर्ट के साथ प्रस्तुत होता है, बाद में नहीं, निर्णय के दिन !

✣ राम प्रसाद 'अटल'

हर्षालय, पुरानी बस्ती रांझी, जबलपुर (म.प्र.) ४८२००५

"कथाबिंब" प्रकाशन के २५ वर्ष पूरे होने पर बधाई. आपने इतने वर्षों तक 'कथाबिंब' को लगातार संपादित व प्रकाशित कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है. जबकि इसी बीच इतनी साहित्यिक पत्रिकाएं बंद हुईं. अप्रैल-जून ०४ अंक का आवरण देखकर मंत्रमुग्ध हो गया. उससे अधिक रामदेव सिंह की कहानी 'संभालिए अपना राजपाट !' के कहानीपन ने मुझे काफी प्रभावित किया. 'गुलो' के भोलेपन, ईमानदारी तथा दर्दभरी मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिक व सहज चित्रण पाठक पर अमिट छाप ही नहीं छोड़ता बल्कि धीरे-धीरे मन को तरंगित भी करता है. इतनी अच्छी कहानी के लिए लेखक को बधाई.

✣ महेंद्र नारायण 'पंकज'

सं.-'जन-तरंग', पैकपार, अररिया (बिहार) - ८५४ ३३४

(...पृष्ठ ३ का शेष भाग)

अप्रैल-जून ०४ अंक मिला. 'आमने-सामने' के अंतर्गत रामदेव सिंह जी को 'सामने' देखने का अवसर मिला. लगभग हर लेखक को संघर्ष पथ से गुज़रना पड़ता है. रामदेव जी की कहानी का कथ्य कोई नया नहीं है लेकिन यह सत्य कि, भक्ति, त्याग, सेवा हमेशा ग़रीबों के हिस्से रहा है और अमीर वर्ग हमेशा ऐसी भावनाओं से खिलवाड़ कर अपने लिए सुख समृद्धि बटोरता रहा है - यह एक बार फिर सामने आया है. डॉ. सी. भास्कर राव बड़े अच्छे लेखक हैं लेकिन 'खिड़की' पढ़कर ऐसा लगा कि अब ये चूक गये हैं, तभी ऐसी सनक मिज़ाजी वाली कहानी उन्होंने लिखी है. डॉ. श्याम जी डॉक्टर के साथ-साथ साहित्यकार भी हैं. अक्सर उनकी कहानियां पढ़ता रहता हूं लेकिन 'क्या यह क़त्ल था ?' पढ़ कर थोड़ा आश्चर्य हुआ, थोड़ी कोफ़्त भी. कोर्ट की सारी कार्यवाही संपूर्ण होने पर जज महोदय की नज़र पोस्ट मार्टम रिपोर्ट पर पड़ी - यह बात मेरे गले से नीचे नहीं उतर रही है. ऑपरेशन के दौरान जब डॉक्टर पेट के अंदर क़ैंची छोड़ सकता है तो यह संभव भी हो सकता है.

✣ कृष्ण मनु

सं. स्वातिपथ, वी-३/३५, मुनी डीह, धनबाद-८२८१२९

"कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक मिला. आभारी हूं. सुश्री संतोष श्रीवास्तव की कहानी 'शहतूत पक गये हैं' बहुत ही स्वाभाविक एवं भाव प्रवण कहानी है. हृदय को छू गयी. डॉ. सी. भास्कर राव की 'खिड़की' ने भी हिंदी कहानी पढ़ने की संभावनाओं की खिड़की खोली है. डॉ. विद्याभूषण की कहानी भी पठनीय है. इसके अतिरिक्त अन्य रचनाएं भी अच्छी हैं.

✣ सुरेंद्र रघुवंशी

महात्मा वाड़े के पीछे, अशोकनगर, (म. प्र.) - ४७३३३१

"कथाबिंब" का नया अंक उदात्त परंपरा के अनुरूप सर्वरूपेण उत्तम है. डॉ. राम विलास शर्मा का दुर्लभ साक्षात्कार इस अंक की उपलब्धि है. डॉ. शर्मा ने अपने चिंतन में पुरातन का आधुनिक के साथ श्रेष्ठ समन्वय किया था. 'आमने-सामने' में रामदेव सिंह ने रचनाकार को ऊर्जस्वित बनाने वाली यातनाओं का सहज वर्णन किया है.

मैं बहुत भावुक नहीं हूं परंतु स्व. निर्गुण जी की कहानियों ने मुझे कई बार रुलाया है. इस बार संतोष श्रीवास्तव की दीदी और रामदेव सिंह के 'गुलो' ने भी मुझे रुला दिया. दोनों रचनाकारों की कहानियां मानवीय औदात्य और संवेदना की थाती हैं. ये दोनों कहानियां कालजयी हैं. डॉ. श्याम सखा 'श्याम' और डॉ. विद्याभूषण की कहानियां भी मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती हैं. ग़ज़लें और लघुकथाएं भी श्रेष्ठ हैं.

✣ डॉ. रामसनेहीलाल शर्मा 'यायावर'

८६, तिलकनगर, बाईपास रोड, फिरोज़ाबाद-२८३ २०३

"कथाबिंब" के अक्तूबर-दिसंबर ०३ अंक में आपका सुखद एहसास वाला संपादकीय पढ़कर आश्चर्य मिश्रित हर्ष हुआ. समय की बिना नब्ज़ पकड़े ही सुनहरे सपने देखने और काग़ज़ी आंकड़ों में विश्वास करने की भाजपाई मानसिकता आप में भी है. भाजपा में वशीर बद्र की जगह आपको लेनी चाहिए थी, आप पीछे कैसे रह गये. ?.

आप मुख्यधारा के लोग हैं, सड़क, टेलीफोन, सेलफोन, टी. वी. चैनल, गाड़ियों और प्लॉटों के लिए लड़ना जानते हैं, यहीं तक सोचते हैं और आपकी सोच का विस्तार भी यहीं तक ही है. शायद आप अपने शहर की सीमा पर बसने वाली एक बहुत बड़ी आबादी को नहीं जानते, जिसे रहने के लिए छत और दो वक़्त की रोटी अज़ादी के सत्तावन साल बाद भी हम मुहैया नहीं करा पाये. इनके सुख-दुख देखने के लिए सरकार नहीं बनती, इनके मरने की ख़बरें टी. वी. चैनलों का मसाला नहीं बनतीं. इनकी ख़बरें यदा-कदा तब ही आती हैं जब वे भूख से मरते हैं, जब इनके टोले फूंक दिये जाते हैं, जब अपराधी बताकर पुलिस मुठभेड़ में मार डालती है या फिर जब वे उन्मत्त होकर नाचते हैं. बाकी दिनों वे किस हाल में जीते हैं तथाकथित भद्र समाज के लोग नहीं जानना चाहते. जो भुखमरी का शिकार है वह उन्मत्त होकर नाच कैसे सकता है ? - टेलीविजन के ज़रिये समाज को समझने वाले लोग पूछते हैं. उन्हें नहीं पता कि जिजीविषा नाम की कोई चिड़िया भी हुआ करती है.

शायद आप जानते हों कि देश की लगभग १२ प्रतिशत आबादी व्यापारियों, करोड़पतियों और उच्चवर्ग की है जो जनसुविधाएं लीलने के लिए मुंह फैलाये रहते हैं. साहित्य में ऐसे आत्मकेंद्रित और आत्ममुग्ध लोग हैं जो जनवादी व्यवस्था का बंटाधार करने पर तुले हैं. पत्रिकाएं निकालना और बहुरंगी किताबें छपवाना उनके लिए एक फैशन है. यह सुविधा संपन्न लेखन है - आम आदमी से इसका कोई लेना देना नहीं.

चीज़ों को अभिज्यात वर्ग के पक्ष में नहीं, आम जनता के पक्ष में देखिए, रेज़गारी की क़िल्लत उनके लिए है, जिसके पास रुपये हैं, दिन भर में हज़ारों का लेन-देन करता है, अपने ऐशो-आराम के लिए दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद एक वक़्त नमक-रोटी भी नसीब नहीं होती. दवाओं के अभाव में मर जाते हैं हजारों अनाथ फुटपाथों पर. पिछले पांच सालों में जिस भाजपा का फीलगुडी राग आप अलाप रहे हैं, उसके जनविरोधी चरित्र को तो पहचानिए. जहां बुद्धिजीवी कहे जाने वाले लोग सत्ता के पिछलग्गू बनने लगें तो फिर चन्नू, मन्नू, मुलई और होरी की कौन सुनेगा. विद्यानिवास मिश्र, महीप सिंह, वशीर बद्र, राजेंद्र अवस्थी, चित्रा मुद्गल आदि साहित्यकार बाजपेयी को भूमिपुत्र बता रहे थे. जय-जय अटलबिहारी गाने वाले ये तथाकथित साहित्यकार आख़िर किस जनधर्म का निर्वाह कर रहे थे. आख़िर इस तरह चुनावों में बुद्धिजीवियों का बाजपेयी सरकार को समर्थन देना और उनके लिए काम करना क्या ठीक था. आख़िर कैसे बुद्धिजीवी हैं ये जिनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान की जगह एक संकीर्ण सोच पनप रही है. इस समय देश पर सबसे बड़ा संकट बुद्धिजीवी ही है जिनके पास गंभीर और सकारात्मक चिंतन का अभाव है.

आप अपना संघी राग अलापना बंद कीजिए और "कथाबिंब" को एक स्वस्थ जामा पहनाइए, जिस विज्ञापनबाजी में भाजपा ने करोड़ों ख़र्च किये क्या आपको भी उसी विज्ञापनबाजी की ज़रूरत महसूस हो रही थी. हमारे गांव के लोग जो नहीं जानते कि देश में संसद नाम की कोई संस्था भी है जहां हमारे भविष्य का निर्धारण होता है, गांव के तीन किमी दूर से पतली-सी कच्ची सड़क निकलती है, सैकड़ों लोग इसी गांव में पैदा हुए और मर-खप गये, शहर नहीं देखा, सिनेमा नहीं देखा, बस पर नहीं बैठे, उन्हें आपके रेल्वे आरक्षण, फोन कनेक्शन के लिए लाइन में लगने की ज़रूरत नहीं है, इन्हें राशन की लाइन में लगवाइए. मोबाइल और कंप्यूटर सस्ते हो गये, इनको क्या ? फिर आख़िर आप जिस बदलाव की बात कर रहे हैं वह किस जनक्षेत्र में हुआ ?

बताइए क्या मैं 'निगेटिज़्म' सोच रहा हूं ?

पंकज मिश्र

ग्राम हरदुआ, पत्रालय नाहिल, पुवायां,
जिला शाहजहांपुर (उ. प्र.) २४२ ४०१.

"कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०४ अंक मिला. इसी अंक में लघुकथा 'स्वाभिमान की राह' बहुत अच्छी रही. वास्तव में आज समाज में हर काम में जुगाड़ या शार्टकट जैसे तरीके घुस आये हैं. इसके ज़िम्मेदार हमारे नेता ही हैं जो आरक्षण का लॉलीपॉप देकर अपना वोट बैंक बनाये हैं. मिलते लड्डू छोड़ना बेवक़ूफ़ी है इसी वजह से समाज में आरक्षण या कोटे जैसी सुविधाएं ख़त्म होने की नहीं. ऐसी लघुकथा से यही प्रेरणा मिलती है कि हम सामर्थ्यवान बनकर इस व्यवस्था को नकार सकते हैं.

दिलीप कुमार गुप्ता

भारतीय पत्रकारिता संस्थान, ३२६ आर्य समाज स्ट्रीट,
बरेली - २४३००३

"कथाबिंब" मिला. 'शहतूत पक गये हैं' की भाषा मंजी हुई है, पर कहानी कोई नयी बात नहीं कहती. डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र की लघुकहानियां अवश्य असर डालती हैं. 'खिड़की' कहानी पत्रिका के पृष्ठ और पढ़नेवालों का टैम ख़ाली पीली ख़राब करती है. 'क्या यह क़त्ल था ?' कहानी का अंत एकदम्मै बैठ गया. बैठ क्या, बिल्कुल्लै लेट गया.

आपका संपादकीय सबसे बढ़िया रहा, इसमें शक नहीं.

अभिनव ओझा

२१०/७/बी/१, स्टेनली रोड, कमलानगर,
इलाहाबाद - २११ ००२

❁ अप्रैल-जून ०४ अंक में कई पठनीय कहानियां हैं, जिनमें संतोष श्रीवास्तव की 'शहतूत पक गये हैं' और रामदेव सिंह की कहानी 'संभालिए अपना राजपाट !' विशेष उल्लेखनीय हैं. दोनों ऊंचे दर्जे की चरित्र प्रधान कहानियां हैं. दोनों के मुख्य पात्र जीवन में अकेले हैं और वे दूसरों के लिए जीते-मरते हैं. संतोष श्रीवास्तव की मुख्य पात्रा जहां अपने सगे-संबंधियों के बीच रहकर पशु-पक्षियों और पेड़ पौधों से लगाव रखती है वहीं रामदेव सिंह का मुख्य पात्र अपने सगे-संबंधियों से दूर अपने मालिक के घर-परिवार के प्रति लगाव और त्याग. मुख्य पात्रा के देहांत के बाद भी संतोष श्रीवास्तव की कहानी जहां सुखांत कही जायेगी, वहीं रामदेव की कहानी मुख्य पात्र के जीते जी दुखांत हो गयी है. फिर भी कथारस, फलक और प्रवाह में रामदेव सिंह की कहानी अधिक प्रभाव छोड़ती है. किसी एक अंक में ऐसी दो उत्कृष्ट कहानियां हों तो उस अंक को सार्थक कहा जायेगा. इस अंक की लघुकथाएं भी रोचक और चुटीली हैं. श्रीरंग की कविता पसंद आयी.

✣ केशव शरण,

एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी - २२१ ००२

❁ "कथाबिंब" अप्रैल-जून ०४ अंक मिला, धन्यवाद ! "कथाबिंब" उन गिनी-चुनी पत्रिकाओं में है जिनका बेसब्री से इंतज़ार रहता है. संतोष श्रीवास्तव की कहानी 'शहतूत पक गये हैं' एकाकी जीवन की अंतरंगता को बड़े मार्मिक ढंग से बयां करती है. डॉ. सी. भास्कर राव की कहानी 'खिड़की' मानव मन की उस अकुलाहट का सजीव चित्रण है जो सदैव पर्दे के पीछे देखना चाहती है और जब सच से साक्षात्कार होता है तो जैसे पैरों के नीचे से ज़मीन ही खिसक जाती है. डॉ. विद्याभूषण की कहानी 'क्या करेंगे गुहा दा !' महानगरीय संस्कृति की अच्छाई-बुराइयों को उनके पूरे विस्तार के साथ प्रस्तुत करती है.

'आमने-सामने' में रामदेव सिंह बेबाकी के साथ अपने जीवन के उन पृष्ठों को पलटते हैं जो कि एक साधारण मनुष्य को सही मायने में लेखक बनाते हैं. उनकी कहानी 'संभालिए अपना राजपाट !' कोरी नैतिकता के नाम पर समाज में नष्ट हो रहे मानवीय मूल्यों का संवेदनशील ढंग से खुलासा करती है. महावीर रवांल्टा ने बड़ी सादगी से अपनी कहानी 'दोस्त बड़ोनी...!' में विद्यार्थी जीवन के उस अल्हड़पन को अभिव्यक्त किया है जिसका भविष्य के निर्माण से भले ही काई वास्ता न हो लेकिन ये वे यादें हैं जिन्हें हर कोई सहेजकर रखना चाहता है. महीपाल भूरिया व श्रीरंग की कविताएं तथा डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र व आलोक सातपुते का लघुकथाएं अच्छी लगीं. लघुकथाओं के शीर्षकों पर ख़ासतौर से ध्यान देने की ज़रूरत है. कुछ शीर्षक किसी बाल पत्रिका की रचना होने का भान कराते हैं.

✣ मोहन सिंह रावत

रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल-२६३ ००२

❁ "कथाबिंब" अप्रैल-जून ०४ प्राप्त हुआ ! आभार ! 'शहतूत पक गये हैं' बेहद संवेदनशील, मर्मस्पर्शी कहानी है. प्रभावित करती है - 'विश्वास का महत्व तो तभी है न जगदीश जब वह स्वयं ज़िंदगी से ऊपर हों', उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है. सुश्री संतोष श्रीवास्तव को बधाई ! डॉ. श्याम सखा 'श्याम' की कहानी उत्कृष्ट कहानी बन पड़ी है. कथन, कहन, मक़सद हर दृष्टि से उत्तम. 'जब भी उसे पीछे से देखता तो वह उसकी मां जैसी लगती, और बोझिल ज़िंदगी में भी एक पुरुष का जीवंत रहना तथा साठ वर्ष की उम्र में भी अपनी ही पत्नी के लिए रोमांटिक होना, नीरस पत्नी के बर्ताव से असमंजस स्थिति में पड़ना तथा इन सबों को क़िस्सागोई शैली में प्रस्तुत करना अच्छे कथाकार के बूते की ही बात है. मर्डर मिस्ट्री की कहानी नहीं, जैसा कि शीर्षक से लगता है. बल्कि गंभीर, विचारोत्तेजक, भावप्रद कहानी है. श्यामजी बधाई के प्राप्त हैं. विद्याभूषण जी की कहानी ठीक लगी. उनके द्वारा बांग्ला का प्रयोग अच्छा लगा किंतु उनसे आग्रह है कि संकलन में कहानी देने से पूर्व बांग्ला को किसी बंगभाषी से ठीक करवा लें. देवनागरी में ठीक से नहीं लिखा गया. मुरलीधर पांडेय और श्रीरंग की कविताएं अच्छी लगीं. श्रीरंग की शैली में पैनापन, नयापन है. योगेंद्रनाथ तथा आलोक कुमार की लघुकथाएं भी अच्छी लगीं.

✣ सुभाषचंद्र गांगुली,

सं. 'विमर्श' ८७ जी/१ए, सर्वोदय नगर,

इलाहाबाद - २११००६.

❁ अपने पच्चीसवें वर्ष में प्रवेश कर रही "कथाबिंब" साहित्यिक जगत की कुछ शीर्ष की जानी-मानी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा चुकी है, यह बात अभी तक के निकले अंकों में समाहित सामग्री तथा पत्रिका के गेटअप को देख कर कही जा सकती है . अनेकों पत्र-पत्रिकाएं हैं जो यहां तक पहुंच ही नहीं पातीं, बीच में ही दम तोड़ जाती हैं. पत्रिका को इस मुकाम तक पहुंचाने के पीछे संपादक की कर्मठता, लग्न, विवेक के साथ-साथ उसकी रचनाओं के चयन में जो दृष्टि रही है उसने ही पत्रिका के प्रत्येक अंक को समृद्धता प्रदान की है. पत्रिका के प्रत्येक अंक में सार्थक, रोचक तथा स्तरीय सामग्री परोसना संपादक की कुशल दृष्टि का परिचायक है, इसी से यह पत्र-पत्रिकाओं की भीड़ में अलग से दिखाई देती है. पत्रिका का मुखपृष्ठ , मुद्रण एवं कलेवर भी संपादकीय संयोजन की मिसाल प्रस्तुत करते हैं. यही कुछ कारण हैं जिनकी वज़ह से पत्रिका नये से नये आयामों को स्पर्श कर रही है. इसके लिए संपादक महोदय, निश्चय ही बधाई के पात्र हैं.

अप्रैल-जून ०४ के अंक की सभी कहानियां पायदार हैं. 'शहतूत पक गये हैं' कहानी औरत मन में छिपे प्यार और उसकी मजबूरियों को बखूबी उजागर करती है. इस कहानी में 'दिदिया' हमेशा ख़्वाबों के अधूरेपन को लेकर जीती रही और लहूलुहान होती रही. डॉ. श्याम सखा 'श्याम' की कहानी 'क्या यह क़त्ल था ?' दांपत्य जीवन की कुछ पथरीली सच्चाइयों को उजागर करने में सफल रही है. महावीर रवांल्टा की कहानी 'दोस्त बड़ोनी, तुम कहां

हो !' बाहरी चकाचौंध से भ्रमित हुए एक मित्र की कहानी है जो जीवन की सच्चाइयों के नुकीले पत्थरों से टकरा कर वापस लौटता है और अपनी पढ़ाई पूरी करता है. 'संभालिए अपना राजपाट !' में इन्सान की ख़ुदगर्ज़ी को उकेरा गया है. मानव मूल्यों का ह्रास दर्शाती यह कहानी अत्यंत ही सार्थक तथा मार्मिक बन पड़ी है. 'आमने-सामने' में इस बार रामदेव सिंह के विषय में बहुमूल्य जानकारी तथा 'सागर-सापी' में डॉ. त्रिभुवन राय की डॉ. रामविलास शर्मा से की गयी बातचीत, अंक को विशिष्टता प्रदान करते हैं.

'कुछ कही, कुछ अनकही' हमेशा की तरह काफी रोचक एवं पठनीय है. देश की राजनीति से जुड़े कई अहम् प्रश्नों को सच्चाई के आइने में उघाड़ने का प्रयास किया गया है. वास्तव में जब हम यह कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है तो भला कैसे राजनीति से विमुख हुआ जा सकता है. आज जो भी सरकार शासन चलाती है उसका मुख्य उद्देश्य रहता है कि वह किस तरह पांच साल अपने राज-पाट को संभाल कर रखती है. उसके लिए भले ही उसे ऐसी नीतियां बनानी पड़ें जिससे अल्पसंख्यकों का वोट बैंक मज़बूत होता हो, भले ही उसे उसके लिए देश हित या राष्ट्रहित की बलि ही क्यों न देनी पड़े. अब देखिए, समान नागरिक संहिता का प्रश्न है, पिछले दिनों सुप्रीम कोर्ट तथा महामहिम राष्ट्रपति ने भी कह दिया कि समान नागरिक संहिता का पालन किया जाये, पर इस पर किसी भी राजनीतिक दल ने कोई भी प्रतिक्रिया नहीं दिखाई. इसका मतलब हमाम में सभी नंगे हैं. एक और हैरानगी की बात है कि भारतवर्ष में ही अल्पसंख्यक समुदाय की आबादी बढ़ रही है, बाक़ी जगह पूरे विश्व में जहां-जहां मुस्लिम देश हैं इनकी आबादी घट रही है. अर्थात् राजनीति सीधे ही आम आदमी को प्रभावित करती है फिर साहित्य जो समाज का दर्पण है कैसे इससे अछूता रह सकता है.

✣ डॉ. सुरेंद्र गुप्त
आर. एन.-७, महेश नगर, अंबाला छावनी-१३३ ००१

कुछ कही, कुछ अनकही

(. . . पृष्ठ ४ से आगे)

मुंबई के बीचों-बीच एशिया की सबसे बड़ी झोपड़ पट्टी है, 'धारावी'. लोग बदबूदार नालों और गलियों के पास रहते हैं - कीड़े मकोड़ों की तरह. ऐसे ही असंख्य लोग देश के अनेकों हिस्सों में मिल जायेंगे. यह सच है कि इनका सुख-दुख देखने के लिए सरकारें नहीं बनतीं. वर्ष १९९९ से पूर्व किस नेता या सरकार ने इन आम आदमियों की स्थिति को सुधारने की क्या कोशिश की और उससे क्या अंतर आया ? और अब तक आपके जनवाद की क्या भूमिका रही है ? क़िताबी बातों को जानें दें, जनवादी या प्रगतिशील विचारधारा के पास आम आदमी की स्थिति में किंचित मात्र भी परिवर्तन आये इसके लिए क्या विकल्प है ? कृपया कोई एक रास्ता तो बताइए ! एक ही ढर्रे पर सोचते रहेंगे तो कुछ नहीं हो पायेगा. बिना पूर्वाग्रहों के दूसरों के विचारों को भी सुनें. इसी में राष्ट्रहित है कि किसी प्रकार के वाद, 'इज्मा' या 'इज़्म' से बुद्धिजीवी/साहित्यकार अलग रहें.

●

पिछले कुछ वर्षों में देश की आर्थिक स्थिति काफी सुदृढ़ हुई है. बिना किसी भी तरह की विदेशी मदद के सड़क - बिजली - पानी - शिक्षा - स्वास्थ्य से संबंधित ऐसी योजनाओं को हाथ में लिया जा सकता है जो एक समय सीमा के अंदर पूरी हो सकें ताकि सभी वर्गों के लोगों को लाभ पहुंचे.

●

दिसंबर में आये भूकंप से उठी सुनामी लहरों ने देश के दक्षिण-पूर्वी भू-भाग में प्रलंयकारी तबाही मचाही. बड़े पैमाने पर जान-माल का नुकसान हुआ. सभी दिवंगतों को हमारी श्रंद्धांजली ! किंतु इतने विपरीत समय में भी देश को विदेशी सहायता की आवश्यकता नहीं हुई. यही सकारात्मकता है.

अरविंद

With Best Compliments From

swastik sanitation

Shop No. 6,
Chauhan Apartment,
S. T. Road, Chembur Naka,
Mumbai-400071.
Tel. : 2527 1699, 2528 7544

हमकदम लघु-पत्रिकाएं

(प्रस्तुत सूची में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो या किसी पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया हो तो कृपया सूचित करें.)

कथादेश (मा.) - हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., १००९ इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, २१ बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली - ११०००१
दाल-रोटी (मा.) - अक्षय जैन, १३ रश्मन अपार्टमेंट, एस. एल. रोड, मुलुंड (प.), मुंबई - ४०० ०८०
मधुमति (मा.) - वेदव्यास, राजस्थान साहित्य अकादमी, हिरन मगरी, सेक्टर-४, उदयपुर ३१३ ००२
वागर्थ (मा.) - विजय दास, भारतीय भाषा परिषद, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता - ७०० ०१७
समाज प्रवाह (मा.) - मधुश्री कावरा, गणेश बाग, जवाहर लाल नेहरू रोड, मुलुंड (प.), मुंबई ४०० ०८०
साहित्य अमृत (मा.) - विद्यानिवास मिश्र, ४/१९ आसफ अली मार्ग, नयी दिल्ली - ११० ००२
साहित्य क्रांति (मा.) - अनिरुद्ध सिंह सेंगर 'आकाश,' भार्गव कॉलोनी, गुना ४७३ ००१ (म. प्र.)
शुभ तारिका (मा.) - उर्मि कृष्ण, ए-४७ शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी - १३३ ००१
शिवम् (मा.) - विनोद तिवारी, जय राजेश, ए-४६२, सेक्टर-ए, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०३९
अरावली उद्घोष (त्रै.) - वी. पी. वर्मा 'पथिक', ४४८ टीचर्स कॉलोनी, अंबामाता स्कीम, उदयपुर ३१३ ००४
अपूर्व जनगाथा (त्रै.) - डॉ. किरन चंद्र शर्मा, डी-७६६, जनकल्याण मार्ग, भजनपुरा, दिल्ली - ११० ०५३
अभिनव प्रसंगवश (त्रै.) - डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, डी-१३१ रमेश विहार, निकट ज्ञान सरोवर, अलीगढ़ (उ. प्र.)
असुविधा (त्रै.) - रामनाथ शिवेंद्र, ग्राम-खड़ुई, पो. पन्नूगंज, सोनभद्र - २३१ २१३ (उ. प्र.)
अक्षरा (त्रै.) - विजय कुमार देव, मं. प्र. रा. समिति, हिंदी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - ४६२ ००२
आकंठ (त्रै.) - हरिशंकर अग्रवाल / अरुण तिवारी, महाराणा प्रताप वार्ड, पिपरिया - ४६१ ७७५ (म. प्र.)
औरत (त्रै.) - मेनका मल्लिक, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
अंचल भारती (त्रै.) - डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, अंचल भारती प्रिंटिंग प्रेस, रा. औ. आस्थान, गोरखपुर मार्ग, देवरिया - २७४ ००१
अंतरंग (त्रै.) - प्रदीप बिहारी, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
अंतरंग संगिनी (त्रै.) - दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजिनी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कंचन लता (त्रै.) - भरत मिश्र 'प्राची', डी-८, सेक्टर-३ए, खेतड़ी नगर - ३३३ ५०४
कृति ओर (त्रै.) - विजेंद्र, सी-१३३, वैशाली नगर, जयपुर - ३०२ ०२१
कथन (त्रै.) - रमेश उपाध्याय, १०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली - ११० ०६३
कथा समवेत (त्रै.) - शोभनाथ शुक्ल, कल्लूमल मंदिर, सब्जी मंडी, चौक, सुल्तानपुर - २२८ ००१
कल के लिए (त्रै.) - डॉ. जयनारायण, 'अनुभूति', विकास भवन, बहराइच - २७१ ८०१ (उ. प्र.)
कहानीकार (त्रै.) - कमल गुप्त, के ३०/३६ अरविंद कुटीर, वाराणसी २२१ ००१
कौशिकी (त्रै.) - कैलाश झा किंकर, क्रांति भवन, चित्रगुप्त नगर, खगड़िया - ८५१ २०४
गुंजन (त्रै.) - मोहन सिंह रावत, रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल - २६३ ००२
तटस्थ (त्रै.) - डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, विवेकानंद विला, पुलिस लाइन्स के पीछे सीकर - ३३२ ००१
तेवर (त्रै.) - कमलनयन पांडेय, १५८७/४, उदय प्रताप कॉलोनी, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स, सुलतानपुर - २२८ ००१
दस्तक (त्रै.) - राघव आलोक, "साराजहां", मकदमपुर, जमशेदपुर - ८३१ ००२
दीर्घाबोध (त्रै.) - कमल सदाना, अस्पताल चौक, ईसागढ़ रोड, अशोक नगर ४७३ ३३१ (म. प्र.)
द्वीप लहरी (त्रै.) - डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी, हिंदी साहित्य कला परिषद, पोर्ट ब्लेयर ७४४ १०१
डांडी-कांटी (त्रै.) - मधुसिंह बिष्ट, भगवान नगर, नलपाड़ा, सैंडोज बाग, कापुर बावड़ी, ठाणे ४०० ६०७
नारी अस्मिता (त्रै.) - डॉ. रचना निगम, १५ गोयागेट सोसायटी, शक्ति एपार्टमेंट, बी-ब्लॉक, एस/३, वडोदरा - ३९० ००४
निमित्त (त्रै.) - श्याम सुंदर निगम, १४१५, 'पूर्णिमा', रतनलाल नगर, कानपुर २०८ ०२२
परिधि के बाहर (त्रै.) - नरेंद्र प्रसाद 'नवीन,' पीयूष प्रकाशन, महेंद्रू, पटना - ८०० ००६
पश्यंती (त्रै.) - प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय, बी-१/१०४ जनकपुरी, नयी दिल्ली - ११० ०५८
प्रगतिशील आकल्प (त्रै.) - डॉ. शोभनाथ यादव, पंकज क्लासेज, पोस्ट ऑफिस बिल्डिंग, जोगेश्वरी (पू.), मुंबई ४०० ०६०
प्रयास (त्रै.) - शंकर प्रसाद करगेती, 'संवेदना', एफ-२३, नयी कॉलोनी, कासिमपुर, अलीगढ़ - २०२ १२७
प्रेरणा (त्रै.) - अरुण तिवारी, सी-१६०, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०१६
पुरुष (त्रै.) - विजयकांत, निराला नगर, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर ८४२ ००२ (बिहार)
पुरवाई (त्रै.) - पद्मेश गुप्त, (भारतीय संपर्क : ऋचा प्रकाशन, डी-३६ साउथ एक्सटेंशन, पार्ट-१, नयी दिल्ली ११० ०४९
बूंद-बूंद सागर (त्रै.) - डॉ. सुरेंद्र प्रसाद 'केसरी', पोस्ट बॉक्स नं. २, रक्सौल ८४५ ३०५
प्रोत्साहन (त्रै.) - जीवतराम सेतपाल, 'सिंधु' बेसमेंट, २०५/३१, मेन रोड, शीव (पू.) मुंबई - ४०० ०२२
भाषा सेतु (त्रै.) - डॉ. अंबाशंकर नागर, हिंदी साहित्य परिषद, २ अमर आलोक अपार्टमेंट, बालवाटिका, मणिनगर, अहमदाबाद - ३८० ००८
मसि कागद (त्रै.) - डॉ. श्याम सखा 'श्याम,' १२ विकास नगर, रोहतक १२४ ००१
मुहिम (त्रै.) - बच्चा यादव / रणविजय सिंह सत्यकेतु, रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया - ८५४ ३०१

युग साहित्य मानस (त्रै.) · सी. जय शंकर बाबू, १८/७९५/एफ/८-ए, तिलक नगर, गुंतकल · ५१५ ८०१ (आं. प्र.)
युगीन काव्या (त्रै.) · हस्तीमल 'हस्ती,' २८ कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज, मुंबई · ४०० ०५५
वर्तमान जनगाथा (त्रै.) · बलराम अग्रवाल, डी-२२ शांतिपथ, पत्रकार कॉलोनी, तिलक नगर, जयपुर · ३०२ ००४
वर्तमान संदर्भ (त्रै.) · संगीता आनंद, देवकीधाम, ए-३ वेस्ट बोरिंग कैनाल रोड, पटना · ८०० ००१
विषय वस्तु (त्रै.) · धर्मेंद्र गुप्त, २७४ राजधानी एन्क्लेव, रोड नं. ४४, शकूर बस्ती, दिल्ली · ११० ०३४
वैखरी (त्रै.) · डॉ. अमरेंद्र, लाल खां दरगाह लेन, विश्वविद्यालय पथ, भागलपुर · ८१० ००२
संबोधन (त्रै.) · कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली · ३१३ ३२४
समकालीन सृजन (त्रै.) · शंभुनाथ, २० बालमुकुंद मक्कर रोड, कलकत्ता · ७०० ००७
साखी (त्रै.) · केदारनाथ सिंह, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर · २७३ ००१
सदभावना दर्पण (त्रै.) · गिरीश पंकज, जी-५० नया पंचशील नगर, रायपुर · ४९२ ००१
सार्थक (त्रै.) · मधुकर गौड़, १/ए/३०३ ब्ल्यू ओसन, ब्ल्यू एंपायर कॉम्प्लेक्स, महावीर नगर, कांदिवली (प.), मुंबई · ४०० ०६७
संयोग साहित्य (त्रै.) · मुरलीधर पांडेय, २०४/'ए' चिंतामणि अपार्टमेंट, आर.एन.पी. पार्क, काशी विश्वनाथ नगर, भयंदर, मुंबई · ४०११०५
सही समझ (त्रै.) · डॉ. सोहन शर्मा, ई-५०३, गोकुल रेजीडेंसी दत्तानी पार्क, वेस्टर्न एक्सप्रेस हाइवे, कांदिवली (पू.), मुंबई · ४०० १०१
स्वातिपथ (त्रै.) · कृष्ण 'मनु', साहित्यांजन, बी-३/३५, बालुडीह, धनबाद · ८२८ १२९
शब्द संसार (त्रै.) · संजय सिन्हा, पो. बॉक्स नं. १६४, आसनसोल ७१३३०१
शुरुआत (त्रै.) · वीरेंद्र कुमार श्रीवास्तव, ३० आकाश गंगा परिसर, पुरानी बस्ती, मनेंद्रगढ़
शेष (त्रै.) · हसन जमाल, पन्ना निवास के पास, लोहार पुरा, जोधपुर ·३४२ ००२
हिंदुस्तानी ज़बान (त्रै.) · डॉ. सुशीला गुप्ता, महात्मा गांधी बिल्डिंग, ७ नेताजी सुभाष रोड, मुंबई · ४०० ००२
अविरल मंथन (अ.) · राजेंद्र वर्मा, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ · २२६ ०२०
कला (अ.) · कलाधर, नया टोला, लाइन बाजार, पूर्णियां · ८५४ ३०१
मित्र (अ.) · मिथिलेश्वर, महाराजा हाता, कतिरा, आरा · ८०२ ३०१
पुनः (अ.) · कृष्णानंद कृष्ण, दक्षिणी अशोक नगर, पथ सं-८बी, कंकड़ बाग, पटना · ८०० ०२०
सरोकार (अ.) · सदानंद सुमन, रानीगंज, मेरीगंज, अररिया · ८५४ ३३४
समीचीन (अ.) · डॉ. देवेश ठाकुर, बी-२३ हिमाचल सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पू.), मुंबई ४०० ०८४
समीहा (अ.) · शेखर सावंत, 'देवायतन', प्रो. कॉलोनी, बेगूसराय · ८५१ १०१
सम्यक (अ.) · [illegible] ए-१० शांतिनगर (संजय नगर), मथुरा २८१ ००१

नवीन खरेदी ? घर दुरुस्ती आणि नुतनीकरण ? व्यवसाय वाढविण्याचे ध्येय ?

जनकल्याण करी सहजशक्य !

जन निवास
जागेची खरेदी व त्यावरील बांधकामासाठी किंवा घर / फ्लॅट च्या पूर्ण खरेदीवर गृह कर्ज

अंतरंग
घराच्या नुतनिकरण व दुरुस्तीसाठी कर्ज

जन आधार
गृहोपयोगी वस्तु वा वैद्यकीय / प्रवास खर्चासाठी कर्ज

मॉर्गेज लोन
स्थायीक मालमत्तेवर विविध गरजांसाठी कर्ज

वाहन कर्ज
नवीन किंवा जुन्या गाडीच्या खरेदीसाठी कर्ज

उद्योगिनी
महिला उद्योजिकांसाठी आर्थिक कर्ज योजना

जन व्यापार
लघु आणि मध्यम उद्योजक, लघु उद्योग आणि उद्योग समूह यासाठी कर्ज

- आकर्षक व्याज दर
- विविध आणि सोईस्कर कर्ज योजना
- सुलभ मासिक हप्ते
- सोपा कागदोपत्री व्यवहार
- व्यक्तिगत बँकींग सेवा

जनकल्याण सहकारी बँक लि.
(शेड्यूल्ड बँक)
स्पर्श आपुलकीचा, संबंध वर्षानुवर्षांचा
मुख्य कार्यालय : विवेक दर्शन, १४०, सिंधी सोसायटी, चेंबूर, मुंबई-४०००७१. फोन:२५२२२५८२ फॅक्स:२५२३०२९६
अधिक माहितीसाठीकृपया तुमच्या नजिकच्या शाखेशी संपर्क करा, आजच !

मुंबई व मुंबईच्या बाहेरील भागात पसरलेल्या २५ शाखांद्वारे उत्कृष्ट ग्राहक सेवेस सदैव तत्पर

'कथाबिंब' के आजीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं. इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव हो तो कृपया हमें लिखें.

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. ए. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) डॉ. राजनारायण पांडेय, मुंबई
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, पंचमढ़ी
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अख्वास अख्वासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, दिल्ली
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, नवी मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह बिष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, बुलंदशहर
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छाबड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
५६) श्रीमती संगीता आनंद, पटना
५७) श्री मनोहर लाल टाली, मुंबई
५८) श्री एन. एम. सिंघानिया, मुंबई
५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
६०) डॉ. ज. वी. यख्मी, मुंबई
६१) डॉ. अजय शर्मा, जालंधर
६२) श्री राजेंद्र प्रसाद 'मधुबनी', मधुबनी
६३) श्री ललित मेहता 'जालौरी,' कोयंबटूर
६४) श्री अमर स्नेह, नवी मुंबई
६५) श्रीमती मीना सतीश दुबे, इंदौर
६६) श्रीमती आभा पूर्वे, भागलपुर
६७) श्री ज्ञानोत्तम गोस्वामी, मुंबई
६८) श्रीमती राजेश्वरी विनोद, नवी मुंबई
६९) श्रीमती संतोष गुप्ता, नवी मुंबई
७०) श्री विशंभर दयाल तिवारी, मुंबई
७१) श्री अभिषेक शर्मा, नवी मुंबई
७२) श्री ए. वी. सिंह, निवोहड़ा, चितौड़गढ़
७३) श्री योगेंद्र सिंह भदौरिया, मुंबई
७४) श्री विपुल सेन 'लखनवी', मुंबई
७५) श्रीमती आशा तिवारी, मुंबई
७६) श्री गुप्त राधे प्रयागी, इलाहाबाद
७७) श्री महावीर रवांल्टा, बुलंदशहर
७८) श्री रमेश चंद्र श्रीवास्तव, फतेहगढ़
७९) डॉ. रमाकांत रस्तोगी, मुंबई
८०) श्री महीपाल भूरिया, मेघनगर, झाबुआ (म. प्र.)

'कथाबिंब' के आजीवन सदस्य

८१) श्रीमती कल्पना बुद्धदेव 'व्रज', राजकोट
८२) श्रीमती लता जैन, नवी मुंबई
८३) श्रीमती श्रुति जायसवाल, मुंबई
८४) श्री लक्ष्मी सरन सक्सेना, कानपुर
८५) श्री राजपाल यादव, धनबाद
८६) श्रीमती सुमन श्रीवास्तव, नयी दिल्ली
८७) श्री ए. असफल, भिंड (म. प्र.)
८८) डॉ. उर्मिला शिरीष, भोपाल
८९) डॉ. साधना शुक्ला, फतेहगढ़
९०) डॉ. त्रिभुवन नाथ राय, मुंबई
९१) श्री राकेश कुमार सिंह, आरा (बिहार)
९२) डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी, भुज-कच्छ
९३) डॉ. उमाकांत बाजपेयी, मुंबई
९४) श्री नेपाल सिंह चौहान, नाहरपुर (हरि.)
९५) श्री राम नारायण तिवारी 'वीरान', बिलासपुर
९६) श्री जे. पी. टंडन 'अलौकिक', फ़र्रुखाबाद
९७) श्री शिव ओम 'अंबर,' फ़र्रुखाबाद
९८) श्री आर. पी. हंस, मुंबई
९९) सुश्री अल्का अग्रवाल सिगतिया, मुंबई
१००) श्री मुन्नू लाल, बलरामपुर (उ. प्र.)
१०१) श्री देवेंद्र कुमार पाठक, कटनी
१०२) सुश्री कविता गुप्ता, मुंबई
१०३) श्री शशिभूषण बडोनी, मसूरी
१०४) डॉ. वासुदेव, रांची
१०५) डॉ. दिवाकर प्रसाद, नवी मुंबई
१०६) सुश्री आभा दवे, मुंबई
१०७) सुश्री रश्मि सक्सेना, मुंबई

: प्राप्ति-स्वीकार :

समरबंशी (उपन्यास) : **सोहन शर्मा**, रचना प्रकाशन, ५७ नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता, चांदपोल बाज़ार, जयपुर-३०२ ००१. मू. ३००/-

मुड़ती है यूं ज़िंदगी (कहानी-संग्रह) : **डॉ. स्वाती तिवारी**, दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली - ११००३५. मू. : १२० रु.

चिनम्मा (क. सं.) : **कुंवर प्रेमिल**, मांडवी प्रकाशन, आर-१०, एफ़/५९, राजनगर, गाज़ियाबाद (उ. प्र.) मू. १००/-

मजदूर मंडी (क. सं.) : **श्याम कुमार पोकरा**, समर प्रकाशन, किसान नगर, बरकत नगर, जयपुर-३०२ ०१५. मू. ७५/-

सवाल तथा अन्य कहानियां (क. सं.) : **सुभाष चंद्र गांगुली**, अनुभूति प्रकाशन, ५३ करनपुर, प्रयाग स्टेशन, इलाहाबाद-२. मू. २००/-

उत्तिष्ठ विश्रांत (समीक्षा) : **सं. डॉ. प्रमथनाथ मिश्र**, आलोकपर्व प्रकाशन, १/६५८८ पूर्वी रोहतासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२. मू. ३५०/-

पोस्टर्स (ल. सं.) : **मनोज सोनकर**, शुभम प्रकाशन, एन-१० उल्धनपुर, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२. मू. १००/-

जहां मुनाफ़ा सब कुछ है हुज़ूर (कविता सं.) : **कुंतल कुमार जैन**, सन्मति प्रकाशन, नरेंद्र सदन, चौथा माला, ३६ डी मुगभाट क्रॉस लेन, ठाकुरद्वार, मुंबई-४०० ००४. मू. ३००/-

टुकड़े-टुकड़े चांद (कविता) : **अक्षय गोजा**, मीनाक्षी प्रकाशन, एम. बी. ३२/२ बी, गली नं. २, शकरपुर, दिल्ली-११००९२. मू. १००/-

अनाम मरता नहीं (काव्य सं.) : **वीरेंद्र सिंह गूंबर**, जनता प्रकाशन प्रकाशन, ए-७५३, डी. डी. ए. कॉलोनी, चौखंडी, नयी दिल्ली-११००१८. मू. ७५/-

जंगल का तापमान (कविता) : **श्याम सुंदर निगम**, १४१५ पूर्णिमा, रतनलाल नगर, कानपुर-२०८ ०२२. मू. २८/-

किसे नहीं मालूम (ग. सं.) : **हरे राम समीप**, पुस्तक बैंक, ५५० सेक्टर-१०, फरीदाबाद-१२१ ००६. मू. १००/-

'किरण देवी सराफ ट्रस्ट' (मुंबई) के सौजन्य से प्रकाशित पुस्तकें

यह तस्वीर उसी की है (उपन्यास) : **कीर्ति परदेसी**, मू. ६०/-, भीतर बाहर का आदमी (कहानी सं.) : **मज़हर सलीम**, मू. १२५/-

बढ़ते क़दम (का. सं) : **सं. अवनीश कुमार दीक्षित**, मू. : ६१/-, साहित्य खोमचा (हास्य) : **रासबिहारी पांडेय**, मू. १००/-

गीतांक -१ (गीत/ग़ज़ल/कविता) : **लालमनी विश्वकर्मा**, मू. ५५/-, अज़ान (कहानी संग्रह) : **एम. मुबीन**, मू. १२५/-

लाल के तीन लाल (काव्य) : **ज्ञानेंद्र प्रसाद शुक्ल**, मू. ५५/-, मेघा (काव्य) : **संतोष एम. मिश्र**,, मू. ५०/-

महके हुए फूल (ग़ज़ल/शायरी) : **प्रवीण जी. पांड्या**, मू. ५०/-, विप्लव-विभा (क. सं.) : **हरिनाम सिंह यादव**, मू. ८०/-

मेरा भारत महान (गीत सं.) : **शकुंतला शर्मा**, मू. १००/-, आलमे ख़याल (का. सं.) : **मरियम गज़ाला**, मू. १००/-

इंडियन रेअर अर्थ्स लिमिटेड

INDIAN RARE EARTHS LTD.

(भारत सरकार का उपक्रम - परमाणु ऊर्जा विभाग)

(A Govt. of India Undertaking - Dept. of Atomic Energy)

प्लॉट नं. १२०७, वीर सावरकर मार्ग, सिद्धि विनायक मंदिर के पास,
प्रभादेवी, मुंबई-४०० ०२८

Plot No. 1207, Veer Savarkar Marg, Near Siddhi Vinayak Temple,
Prabhadevi, Mumbai 400 028.

तार / Cable : रेअरअर्थ / RAREARTH

फोन /Tel. : 2438 2042, 2421 1630, 2421 1851, 2422 0230, फैक्स /Fax : 2422 0236

Indian Rare Earths Limited (IREL) is a silent partner in almost every facets of your daily routine.

We take nature's bounty in the form of beach sands and separate it to extract rare earths and minerals that go into the production of a wide range of products like :-

- Ceramics
- Flints of lighters
- Magnetic heads in audio system
- Optical lenses
- Welding electrodes
- Paints
- Gas Mantles
- Colour TV Picture tube
- Detergent

Indian Rare Earths Limited envisioned by Dr. Homi J. Bhabha and inaugurated by Shri Jawaharlal Nehru is extracting wealth from the sand and earning precious foreign exchange for the nation.

आर. एन. आई. पंजीकरण संख्या : ३५७६४/७९

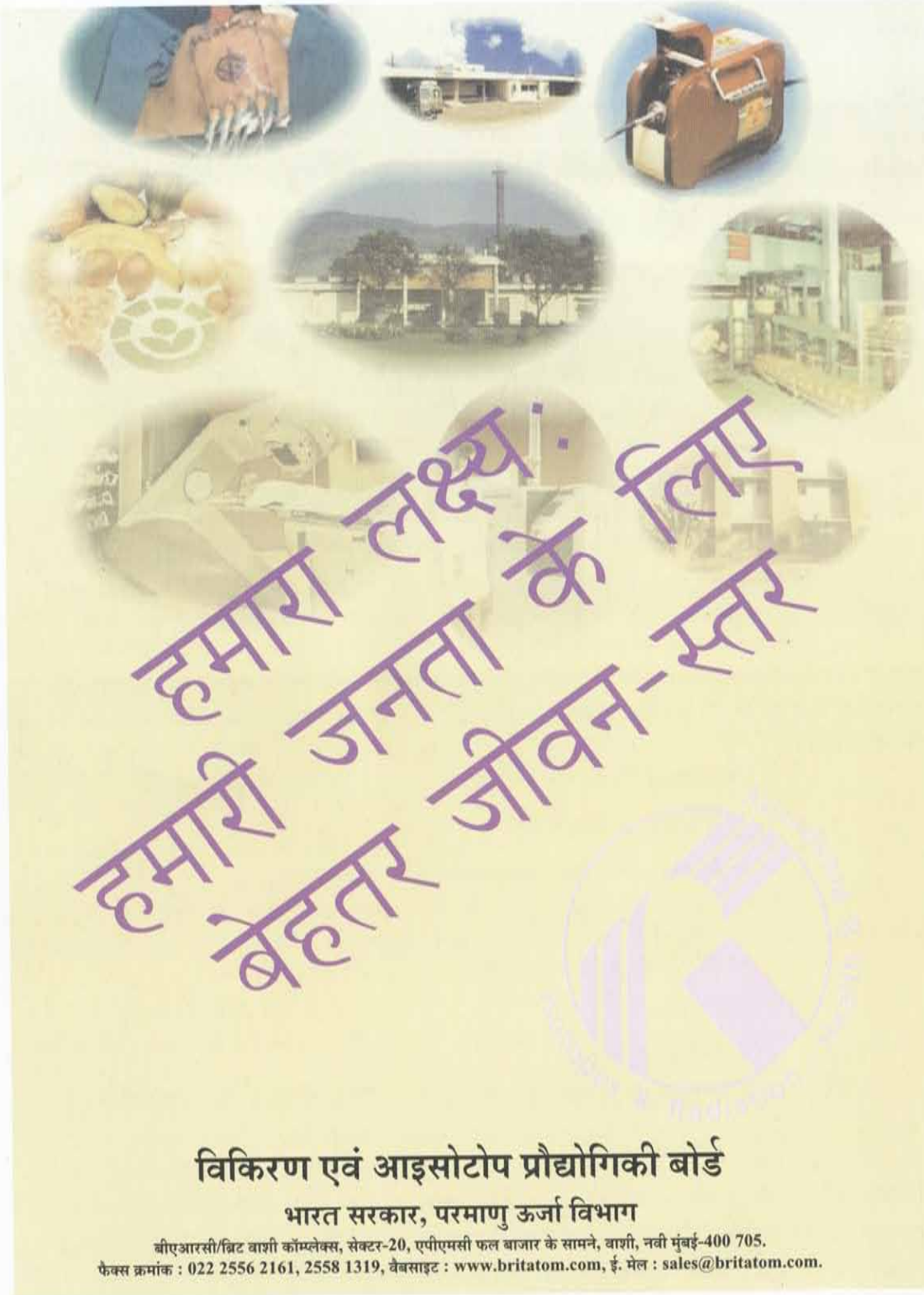

विकिरण एवं आइसोटोप प्रौद्योगिकी बोर्ड

भारत सरकार, परमाणु ऊर्जा विभाग

बीएआरसी/ब्रिट वाशी कॉम्प्लेक्स, सेक्टर-20, एपीएमसी फल बाजार के सामने, वाशी, नवी मुंबई-400 705.
फैक्स क्रमांक : 022 2556 2161, 2558 1319, वैबसाइट : www.britatom.com, ई. मेल : sales@britatom.com.

मंजुश्री द्वारा संपादित व **आर्ट होम**, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : **वन-अप प्रिंटर्स**, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : २५२१ २३४८ व २५२१ ६२८४.